त्रैमासिक आलोचना

वर्ष २ अंक ४ पूर्णाङ्क ८ जुलाई १९५३

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक ३)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

साहित्य में गतिरोध

कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य की सम-प्रगति में गतिरोध की बात प्रायः विभिन्न मे, विभिन्न निकायो के आलोचको ही जाती रही है। साहित्य मे गतिरोध अर्थ हो सकते हैं। यह सम्भव है कि -सृजन का एक दौर ऐसा हो जब प्रचुर साहित्य का प्रकाशन हो रहा हो, जनता रही हो, किन्तु उस प्रसार और प्रचार भी साहित्य का स्तर सतही तथा उसकी [illegible] हो गई हो, उसमे मानवीय के गहन आध्यात्मिक संकट और मर्म-पीडाओ को छूने की शक्ति न रह गई से टाल्सटाय, डास्टावस्की, चेखव और के बाद का रूसी कथा-साहित्य), या के सृजन पर व्यावसायिकता का भयानक पड़ रहा हो और फलस्वरूप उच्च स्तर तियो के सृजन की अपेक्षा सस्ती और जन-रुचि को सन्तुष्ट करने वाला साहित्य क ढंग से इस तरह सजा दिया गया हो स्तर के साहित्य की मूल सरस्वती-धारा विलुप्त हो रही हो, (जैसे जेम्स टी० फैरेल, स्टीनबेक, फाकनर, फिट्ज़जेराल्ड की पीढी के बाद का अधिकाश अमरीकन साहित्य), या शिल्प की सूक्ष्मताओ और पच्चीकारियो से सम-न्वित किन्तु एक सुस्पष्ट भाव-पथ से विचलित, विक्षुब्ध, चौकाने वाला, शिल्प और चिन्तन के अस्थायी फैशनो को अधिक महत्त्व देने वाला प्रभावयुक्त किन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट साहित्य (जैसे इस शती का बहुत-सा अतियथार्थवादी, अस्तित्व-वादी तथा अन्यथा विशृङ्खल फ्रासीसी साहित्य), ये सभी साहित्य के गतिरोध या गति-विभ्रम के स्पष्ट उदाहरण है।

क्या हिन्दी मे इस प्रकार के किसी गतिरोध या गति-विभ्रम के कीटाणु दीख रहे है ? यदि हॉ, तो क्या वे कीटाणु इतने प्रबल है कि हमारी जीवनदायिनी परम्परा के सशक्त तत्त्वो को परा-जित कर सकने मे समर्थ हो गए हैं ? या यह गतिरोध का नारा केवल पाश्चात्य साहित्य के विषय मे कही जाने वाली उक्तियो का भारतीय अनुकरण-मात्र है; जो भारतीय साहित्य—विशेष-तया हिन्दी-साहित्य—की परिस्थिति और गति-विधि पर विचार किये बिना उस पर लागू कर

का प्रयोग एक मुख्य विशेषता है। प्रयोगशील कवियो ने जीवित शब्दावली मे वृद्धि नही की है, ऐसा सम्भवतः अत्यन्त एकागी और पक्षपातपूर्ण समीक्षक भी नहीं कहेगे। शब्द और अर्थ के विषम असामंजस्य की समस्या हमारे यहाँ है ही नही, क्योकि हिन्दी की ऐतिहासिक भूमिका यूरोपीय परम्परा से कुछ भिन्न है। प्रयोग और नये पदो की खोज की जिस लालसा ने अंग्रेजी और फ्रेञ्च कवियो के दायरे को सीमित कर दिया उसीने हिन्दी के कवियो को बोलियो की ओर मोड़ा और भाषा का परिष्कार किया।

भाषा का यह विकास केवल कविता के क्षेत्र मे ही हुआ हो ऐसी बात नही है। हिन्दी-गद्य के परिष्कार मे भी कई नूतन प्रवृत्तियो का आभास मिला है। सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी कृति से किसी का कुछ मतभेद क्यो न हो किन्तु 'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय की भाषा की परिपक्व लय, जैनेन्द्र के 'व्यतीत' मे भाषा की सशक्त सादगी, रुद्र की 'बहती गंगा' मे लोक भाषा की शब्दावली और जीवित मुहावरे, लक्ष्मीनारायणलाल के 'बया का घोसला और साँप' की भाषा का खेतो की मिट्टी-जैसा सोधापन, अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' मे लखनऊ के एक मुहल्ले की सजीव बोल-चाल, इलाचन्द्र जोशी के नये उपन्यासो मे भाषा के पिछले उलझाव के स्थान पर सहज प्रवाह—ये सब हिन्दी-गद्य के नये मोड के परिचायक है। नये खेवे के व्यंगकारों की कृतियाँ इस बात की परिचायक है कि हिन्दी अब सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओ के लिए समर्थ होती जा रही है। व्यंग भाषा की अत्यन्त परिमार्जित अवस्था मे ही सम्भव है और उसका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढती हुई समृद्धि का प्रमाण है।

सम्भव है कि कुछ लोग, जिनका दृष्टिकोण साहित्यिक न होकर अन्यथा हो, भाषा सम्बन्धी इस प्रगति के महत्त्व को न स्वीकार करे, किन्तु भाषा को सँवारने का उत्तरदायित्व गौण नही है। जिस प्रकार मूर्तिकार केवल अपनी कल्पना को ही नही सँजोता वरन् उस मिट्टी के रासायनिक तत्त्वो का भी परीक्षण कर लेता है, जिससे उसे मूर्ति गढ़नी है, उसी प्रकार भावभूमि के विकास के अतिरिक्त भाषा के विकास का प्रयास साहित्यिक प्रगति की दिशा मे किया जाने वाला प्रयास है। हिन्दी के जिस भी लेखक का योग पिछले सौ वर्ष की इस नई साहित्यिक भाषा को सँजोने, सँवारने, निखारने और ढालने मे रहेगा, हमारे साहित्य की आधुनिक भूमिका मे वह प्रगतिशील ही कहलायगा। इस स्पष्ट तथ्य को 'फार्मलिज़्म' कहकर वे ही ठुकरा सकते है जिन्हे साहित्य की सूक्ष्म प्रकृति का परिचय नहीं है।

भाषा के बाद अब भावभूमि का प्रश्न आता है। आज गतिरोध-सम्बन्धी विवाद का केन्द्र भी यही है। इस सम्बन्ध मे दी जाने वाली सारी दलीलो का तात्पर्य यह है कि उच्च साहित्यिक सृजन की सम्भावनाएँ समाप्तप्राय है। इस सम्बन्ध मे कुछ प्रतिपाद्य यूरोपीय समीक्षा मे स्वयंसिद्ध नियमो की भाँति प्रचलित है, जिनका सहारा हमारे समीक्षक भी आँख मूँदकर लेते है। उदाहरणार्थ एक तर्क यह कि समाज मे संकट एवं गतिरोध उत्पन्न हो गया है अतः इससे सिद्ध होता है कि साहित्य मे भी (जो सामाजिक वातावरण से बँधा हुआ है) यह गतिरोध अनिवार्य है। सामाजिक गतिरोध एवं संकट के तथाकथित समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर हम यदि ध्यान न भी दे तो भी यह तर्क बड़ा ही विचित्र और विस्मयजनक है। इस प्रकार का यान्त्रिक तर्क कितना प्राचीन है, यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त मे [illegible]-

साहित्य के सम्बन्ध मे एंगेल्स के निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :

"पिछली शताब्दी के अन्त में जर्मनी की यही दशा थी। समूचा समाज सड़ाँध और जुगुप्साजनक क्षय से ग्रसित पिण्ड-मात्र था। किसी को चैन न था। देश का व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और कृषि शून्य हो गए थे। किसानों, व्यवसायियो और वस्तु-निर्माताओं पर व्यापारिक मन्दी और खून चूसने वाले शासन का दुहरा दबाव पड़ रहा था। सामन्तवर्ग का अनुभव था कि अपने नीचे के वर्गों को चूसने के बावजूद भी उनकी आय उनके बढ़ते हुए व्यय की बराबरी कर पाने में असमर्थ थी। न जनसाधारण के विचारो को उत्प्रेरित करने का कोई साधन, न मुक्त समाचार-पत्र, न सामाजिक भावना, और न दूसरे देशों के साथ बढ़ता हुआ व्यापार ही—कुछ भी नहीं था सिवाय नीचता और स्वार्थपरायणता के—एक निम्न, कुटिल और पतित दुकानदारी की भावना के, जो समस्त लोक-जीवन में व्याप्त हो गई थी। हर वस्तु जर्जर हो गई थी, टूटकर बिखर रही थी, तेजी के साथ खंडहर होती जा रही थी और किसी भी शुभ परिवर्तन की रंच-मात्र भी आशा नहीं थी, यहाँ तक कि राष्ट्र मे इतनी भी शक्ति बाकी नहीं रह गई थी जो मृत प्रतिष्ठानो की सड़ती हुई लाश को ठोकर मारकर बाहर तो कर सके।

बेहतरी की एक-मात्र आशा देश के साहित्य मे दिखलाई पड़ी। यह लज्जाजनक राजनीतिक और सामाजिक युग साथ-ही-साथ जर्मन-साहित्य का महान् युग भी था। सन् १७५० तक जर्मनी के लगभग सभी महान् आचायो का जन्म हो चुका था—गेटे और शिलर-जैसे कवि, कांट और फिख्टे-जैसे दार्शनिक और मुश्किल से बीस ही वर्ष बाद जर्मनी का अन्तिम महान् तत्त्ववेत्ता हीगेल।"[1]

एंगेल्स के इस कथन से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक संकट साहित्य मे गतिरोध के रूप मे ही अपने को प्रतिफलित करे। यह तान्त्रिक अर्थवादी दृष्टिकोण है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण नही। कई स्थलो पर मार्क्स ने यह संकेत किया है कि मानवीय चेतना आर्थिक परिस्थितियो से निर्मित होती है किन्तु फिर वह उनको अनुशासित भी करती है, उनके विरुद्ध सघर्ष भी करती है और उनका पुनर्निर्माण भी करती है। इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए लेखक मार्क्सवादी ही हो, यह आवश्यक नही। साहित्यकार मे एक सहज मानवीय सवेदना होती है, जो लोक-जीवन मे व्याप्त विषाद, खिन्नता, पीडा और कातरता को ग्रहण करके उसे वाणी देती है। समाज मे चाहे जितना संकट हो किन्तु साहित्य मे संकट तभी आता है जब साहित्यकार वेदना को आत्मसात् करने मे असमर्थ हो जाता है, जब उसका लोक-संवेदना से आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छिन्न हो जाता है, जब उसकी सामाजिक जडे उखड जाती है और जब वह एक छोटे-से दायरे मे सीमित हो जाता है। देखना यह है कि क्या हिन्दी मे कुछ ऐसे लेखक है जो इस दायरे मे आबद्ध हो गए है? यदि हाँ, तो यह गतिरोध उनका गतिरोध है, व्यापक हिन्दी साहित्य का नही।

पिछले दस वर्षों की साहित्यिक गतिविधि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हिन्दी-लेखकों का एक छोटा-सा वर्ग साहित्य की व्यापक जनवादी चेतना का आधार छोडकर दिनो-दिन एक सीमित दायरे मे बँधता चला

---

१. प्रो० एंगेल्स—'द नार्दर्न स्टार', २२ अक्तूबर १८४५

का प्रयोग एक मुख्य विशेषता है। प्रयोगशील कवियो ने जीवित शब्दावली मे वृद्धि नही की है, ऐसा सम्भवतः अत्यन्त एकागी और पक्षपातपूर्ण समीक्षक भी नहीं कहेगे। शब्द और अर्थ के विषम असामंजस्य की समस्या हमारे यहाँ है ही नही, क्योकि हिन्दी की ऐतिहासिक भूमिका यूरोपीय परम्परा से कुछ भिन्न है। प्रयोग और नये पदो की खोज की जिस लालसा ने अंग्रेजी और फ्रेञ्च कवियो के दायरे को सीमित कर दिया उसीने हिन्दी के कवियो को बोलियो की ओर मोडा और भाषा का परिष्कार किया।

भाषा का यह विकास केवल कविता के क्षेत्र मे ही हुआ हो ऐसी बात नही है। हिन्दी-गद्य के परिष्कार मे भी कई नूतन प्रवृत्तियो का आभास मिला है। सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी कृति से किसी का कुछ मतभेद क्यो न हो किन्तु 'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय की भाषा की परिपक्व लय, जैनेन्द्र के 'व्यतीत' मे भाषा की सशक्त सादगी, रुद्र की 'बहती गंगा' मे लोक भाषा की शब्दावली और जीवित मुहावरे, लक्ष्मीनारायणलाल के 'बया का घोसला और साँप' की भाषा का खेतो की मिट्टी-जैसा सोधापन, अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' मे लखनऊ के एक मुहल्ले की सजीव बोल-चाल, इलाचन्द्र जोशी के नये उपन्यासो मे भाषा के पिछले उलझाव के स्थान पर सहज प्रवाह—ये सब हिन्दी-गद्य के नये मोड के परिचायक है। नये खेवे के व्यंगकारो की कृतियाँ इस बात की परिचायक है कि हिन्दी अब सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओ के लिए समर्थ होती जा रही है। व्यंग भाषा की अत्यन्त परिमार्जित अवस्था मे ही सम्भव है और उसका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढ़ती हुई समृद्धि का प्रमाण है।

सम्भव है कि कुछ लोग, जिनका दृष्टिकोण साहित्यिक न होकर अन्यथा हो, भाषा सम्बन्धी इस प्रगति के महत्त्व को न स्वीकार करे, किन्तु भाषा को सँवारने का उत्तरदायित्व गौण नही है। जिस प्रकार मूर्तिकार केवल अपनी कल्पना को ही नही सँजोता वरन् उस मिट्टी के रासायनिक तत्त्वो का भी परीक्षण कर लेता है, जिससे उसे मूर्ति गढ़नी है, उसी प्रकार भावभूमि के विकास के अतिरिक्त भाषा के विकास का प्रयास साहित्यिक प्रगति की दिशा मे किया जाने वाला प्रयास है। हिन्दी के जिस भी लेखक का योग पिछले सौ वर्ष की इस नई साहित्यिक भाषा को सँजोने, सँवारने, निखारने और ढालने मे रहेगा, हमारे साहित्य की आधुनिक भूमिका मे वह प्रगतिशील ही कहलायगा। इस स्पष्ट तथ्य को 'फार्मलिज़्म' कहकर वे ही ठुकरा सकते है जिन्हे साहित्य की सूक्ष्म प्रकृति का परिचय नहीं है।

भाषा के बाद अब भावभूमि का प्रश्न आता है। आज गतिरोध-सम्बन्धी विवाद का केन्द्र भी यही है। इस सम्बन्ध मे दी जाने वाली सारी दलीलो का तात्पर्य यह है कि उच्च साहित्यिक सृजन की सम्भावनाएँ समाप्तप्राय है। इस सम्बन्ध मे कुछ प्रतिपाद्य यूरोपीय समीक्षा मे स्वयसिद्ध नियमो की भाँति प्रचलित है, जिनका सहारा हमारे समीक्षक भी आँख मूँदकर लेते है। उदाहरणार्थ एक तर्क यह कि समाज मे संकट एवं गतिरोध उत्पन्न हो गया है अतः इससे सिद्ध होता है कि साहित्य मे भी (जो सामाजिक वातावरण से बँधा हुआ है) यह गतिरोध अनिवार्य है। सामाजिक गतिरोध एवं सकट के तथाकथित समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर हम यदि ध्यान न भी दे तो भी यह तर्क बडा ही विचित्र और विस्मयजनक है। इस प्रकार का यान्त्रिक तर्क जितना आमक है, वह अठारहवीं शताब्दी के अन्त मे जर्म-

साहित्य के सम्बन्ध मे एगेल्स के निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :

"पिछली शताब्दी के अन्त में जर्मनी की यही दशा थी। समूचा समाज सड़ाँध और जुगुप्साजनक क्षय से ग्रसित पिण्ड-मात्र था। किसी को चैन न था। देश का व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और कृषि शून्य हो गए थे। किसानों, व्यवसायियो और वस्तु-निर्माताओ पर व्यापारिक मन्दी और खून चूसने वाले शासन का दुहरा दबाव पड रहा था। सामन्तवर्ग का अनुभव था कि अपने नीचे के वर्गों को चूसने के बावजूद भी उनकी आय उनके बढते हुए व्यय की बराबरी कर पाने में असमर्थ थी। न जनसाधारण के विचारो को उत्प्रेरित करने का कोई साधन, न मुक्त समाचार-पत्र, न सामाजिक भावना, और न दूसरे देशों के साथ बढ़ता हुआ व्यापार ही—कुछ भी नहीं था सिवाय नीचता और स्वार्थपरायणता के—एक निम्न, कुटिल और पतित दुकानदारी की भावना के, जो समस्त लोक-जीवन में व्याप्त हो गई थी। हर वस्तु जर्जर हो गई थी, टूटकर बिखर रही था, तेजी के साथ खंडहर होती जा रही थी और किसी भी शुभ परिवर्तन की रंच-मात्र भी आशा नहीं थी, यहाँ तक कि राष्ट्र मे इतनी भी शक्ति बाकी नही रह गई थी जो मृत प्रतिष्ठानो की सड़ती हुई लाश को ठोकर मारकर बाहर तो कर सके।

बेहतरी की एक-मात्र आशा देश के साहित्य में दिखलाई पड़ी। यह लज्जाजनक राजनीतिक और सामाजिक युग साथ-ही-साथ जर्मन-साहित्य का महान् युग भी था। सन् १७९० तक जर्मनी के लगभग सभी महान् आचार्यो का जन्म हो चुका था—गेटे और शिलर-जैसे कवि, कांट और फिश्टे-जैसे दार्शनिक और मुश्किल से बीस ही वर्ष ... वेत्ता हीगेल।'[1]

एगेल्स के इस कथन से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक संकट साहित्य मे गतिरोध के रूप मे ही अपने को प्रतिफलित करे। यह तान्त्रिक अर्थवादी दृष्टिकोण है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण नही। कई स्थलो पर मार्क्स ने यह संकेत किया है कि मानवीय चेतना आर्थिक परिस्थितियो से निर्मित होती है किन्तु फिर वह उनको अनुशासित भी करती है, उनके विरुद्ध संघर्ष भी करती है और उनका पुनर्निर्माण भी करती है। इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए लेखक मार्क्सवादी ही हो, यह आवश्यक नही। साहित्यकार मे एक सहज मानवीय सवेदना होती है, जो लोक-जीवन मे व्याप्त विषाद, खिन्नता, पीडा और कातरता को ग्रहण करके उसे वाणी देती है। समाज मे चाहे जितना संकट हो किन्तु साहित्य मे संकट तभी आता है जब साहित्यकार वेदना को आत्मसात् करने मे असमर्थ हो जाता है, जब उसका लोक-संवेदना से आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छिन्न हो जाता है, जब उसकी सामाजिक जडे उखड जाती है और जब वह एक छोटे-से दायरे मे सीमित हो जाता है। देखना यह है कि क्या हिन्दी मे कुछ ऐसे लेखक है जो इस दायरे मे आबद्ध हो गए है? यदि हॉ, तो यह गतिरोध उनका गतिरोध है, व्यापक हिन्दी साहित्य का नही।

पिछले दस वर्षों की साहित्यिक गतिविधि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हिन्दी-लेखकों का एक छोटा-सा वर्ग साहित्य की व्यापक जनवादी चेतना का आधार छोडकर दिनो-दिन एक सीमित दायरे मे बँधता चला

---

१. प्रो० एंगेल्स—'द नार्दर्न स्टार', २२ अक्तूबर १८४५

सामने उचित प्रतिभा होने पर कोई गतिरोध नही है। इस स्वर मे विविधता है, वैचित्र्य है और अपना-अपना अनुभूत सत्य है। किसी योजना मे समन्वित 'म्यूज़िक कन्सर्ट' की तरह उनकी आवाज मे प्रत्यक्ष अथवा प्रतिबाधित एक-सूत्रता नही है और न इसकी आवश्यकता ही है। फिर भी, कही दूर से गुज़रने वाले विशाल जुलूस के विभिन्न स्वरो मे जो एक हल्का किन्तु निश्चित सामंजस्य होता है, वही इस व्यापक प्रगतिशील वर्ग की वाणी मे है। इस वाणी का आधार किसी भी विशेष दल की चलायमान नीति न होकर भारतीय जनता का सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रति वह महान् अभियान है जो आज एशिया, यूरोप, अमरीका और अफ्रीका के विशाल महाद्वीपो के समकालीन इतिहास को प्रभावित कर रहा है। इस वाणी का आधार हमारी वह महान् शान्तिवादी परम्परा है जिसने आज दोनो शिविरो के राष्ट्रों के सम्मुख एक नया नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस वाणी का आधार भारतीय जनता का वर्तमान अभाव, पीडा, संकट, दारिद्रय और दुःख की चेतना है और उससे मुक्त होने के लिए उसका जो प्रजातान्त्रिक प्रयास है, उसमे इन नये लेखको की अटूट आस्था है। वे लोग, जो हिन्दी की इस नई चेतना का सही आकलन नहीं कर पाते, यह भूल जाते है कि आज हिन्दी मे वह पीढ़ी उभरकर आई है जिसने सन् ४२ मे विश्व के महान् साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्ति का आह्वान किया था। वही पीढी आज दस वर्ष बाद अपनी परिपक्व लेखनी को भारतीय जन-संस्कृति के नव निर्माण के लिए अर्पित कर रही है। उसका अदम्य उत्साह निर्माणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। उसने क्रान्ति का पाठ पढ़ा है, किंतु रक्त-पात मे अन्धी होकर मानव-मूल्यो का विस्मरण नहीं किया है।

वास्तव मे आकलन मे भूल तब होती है जब हम भारतीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति को यूरोपीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति के समानान्तर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। युद्ध को भारतीय जनता ने उस रूप मे ग्रहण ही नहीं किया, न उससे यथावत् उस रूप मे प्रभावित ही हुई जिस रूप मे यूरोप प्रभावित हुआ। हमारे लिए ४२ का विद्रोह, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नर-संहार, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति, भारत का बढ़ता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व और गाधी-विनोबा की वैष्णव राजनीति और भारतीय जनता का दुःख अधिक निकट के सत्य है जिन्होंने नई पीढ़ी की चेतना मे जहाँ एक ओर सामाजिक और साम्प्रदायिक वैषम्य के प्रति पीडा जाग्रत की है, वहीं अपनी जनता के भविष्य के प्रति एक अदम्य आस्था और विश्वास भी जगाया है। यूरोपीय मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग की भाँति हूबहू हममे वह चारित्रिक अराजकता, अनास्था व्यक्तित्व का बिखराव आ गया है ऐसा कहना न केवल कुत्सित समाजशास्त्रीयता है, वरन् हद दर्जे की निराशावादिता है। साहित्यिक चेतना को इतिहास के मानदण्डों पर कसने वाले को यह तथ्य पूर्णतया हृदयंगम कर लेना चाहिए कि युद्ध के बाद का भारत आजाद, प्रजातान्त्रिक पद्धति का भारत है। निश्चय ही हम पूर्ण अनास्था, हताशा और भ्रम-विच्छेद के युग से नहीं गुज़र रहे है, हमारी सास्कृतिक जडे उखडी नहीं है वे और भी गहरी पैठ रही है, ऊपर की पुनरुत्थानवादी पर्त को तोडकर अपनी संस्कृति के व्यापक जनवादी और लोकपरक तत्त्वों तक पहुँच गई है। यूरोपीय अराजकता का आरोप हम पर करना अवैज्ञानिक है। हम फिर वही वाक्य दोहराना चाहेंगे कि हमारा झुटपुटा प्रभात का है, सन्ध्या का नहीं।

किन्तु इस नई आस्था ने इन लेखकों की आँखों के सामने किसी विभ्रममय, काल्पनिक,

अवैज्ञानिक स्वप्न-लोक का सृजन नही किया है। इस नई आस्था ने उन्हे एक नूतन यथार्थ के प्रति जागरूक बनाया है। वे अभाव से पीडित किन्तु राजनीतिक दासता से मुक्त भारतीय जनता की पीडा भी पहचानने का प्रयास कर रहे है और साथ ही उसकी प्रगति और उसकी मुक्ति मे उनका अदम्य विश्वास भी है। यद्यपि यह भी ठीक है कि उन सब की प्रतिक्रिया एकरूप नही है, क्योकि वे दलानुशासित नही है। अभाव और प्रगति की इस मिली-जुली स्थिति से प्रत्येक साहित्यकार अपने ढग से, अपनी रुचि से सत्य और सौन्दर्य के तत्त्व ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। किसी मे विद्रोह का स्वर तीखा है, किसी मे निर्माण का। पर आस्थावान वे सब है। यही नहीं, वरन् उनकी आस्था उस क्षण के वर्तमान मे भी सजीव है। वे भविष्य की किसी अघटित घटना की प्रतीक्षा मे हाथ-पर-हाथ धरे नही-बैठे है। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय एकता और जनवादी संस्कृति के पुनर्निर्माण की जो नींव पडेगी उसका समय आज ही है, किसी परिकल्पित क्रान्ति के बाद नहीं। इन लेखको का विश्वास है कि जनतन्त्र की स्थापना का जो प्रयोग हमारे देश मे किया जा रहा है, तमाम दोषो के बावजूद भी वह शुभ है और सही रास्ता है। नये विकास की शक्तियो को पूरी तरह आगे बढने का पूरा अवसर नही मिल पाया है। इसके कई सामाजिक और राजनीतिक कारण है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष हरगिज नहीं निकलता कि वे शक्तियाँ है ही नहीं या इतनी शक्तिहीन है कि मुट्ठी-भर प्रतिक्रियावादी वर्ग कोई ऐसा षड्यन्त्र कर बैठे कि आगे का रास्ता ही रुक जाय। सबसे मुख्य बात यह है कि इन लेखको को जनता की प्रजातन्त्रवादी निर्णयात्मक शक्ति पर पूरा भरोसा है कि अपनी सामूहिक आवाज से वह अपना पथ-निर्देश कर सकती है। इसके लिए किसी अभिजात्य वर्ग की आवश्यकता नही, जो तानाशाही स्थापित करके उसे भेड की तरह हाँके। आज के सास्कृतिक प्रयास का ध्येय जनतन्त्र एवं नवजीवन मे सार्थकता लाने का है। इसीलिए साहित्य का स्वर विधेयात्मक होगा, ध्वंसात्मक नही। यही नही वरन् राजनीतिक दलो द्वारा विकीर्ण असहिष्णुता का परित्याग करके राष्ट्रीय एकता, हिन्दी-भाषा के राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और साहित्य के सामाजिक मूल्यो के प्रश्न पर सभी लेखक एक हो, जो किसी कारण से मुख्य धारा से कट गए है उन्हे भी अपने विशाल वृत्त मे समेट लिया जाय, यह हमारा गुरुतर दायित्व है। दलानुशासित लेखको का भी राजनीतिक पूर्वग्रह कुछ भी हो, उनका अनुभूत सत्य व्यापक प्रगतिशील चेतना से अलग नही है। इस विश्वास के यथेष्ट प्रमाण हैं कि अधिकतर साहित्यकार इस उत्तरदायित्व का अनुभव कर रहे है। एक तरफ तो भाषा को अधिक लचीली और शक्तिशाली बनाने का भारी काम है, दूसरी ओर एक आशामय मानवतावाद द्वारा जन-जीवन की सास्कृतिक चेतना को समृद्ध करने का प्रश्न है।

जिन लेखको के सामने भावभूमि और भाषा का इतना बडा अविजित साम्राज्य पडा हो उनके लिए गतिरोध का प्रश्न ही क्या? उन्हे तो सब-कुछ जीतना ही है, हारना कुछ भी नही।

लय, तुक और कल्पनाशीलता अधिक होती है) नित्य व्यवहार की भाषा से अधिक आदिम है। इसीलिए आदिम जातियों की बोल-चाल की भाषा और काव्यात्मक भाषा में अधिक अन्तर नहीं होता। बहुधा उनकी सामान्य बोल-चाल की भाषा भी लययुक्त, संगीतात्मक और कल्पनायुक्त होती है। उनमें प्रचलित गीत ही उनको कविता के प्राप्त उदाहरण हैं, जिनमे उनके लिए जादू का ही प्रभाव होता है। इस काव्य में संगीत का उद्देश्य बाह्य जगत् अथवा प्रकृति मे परिवर्तन उपस्थित करना होता है। कल्पना मे ही आदिम जातियाँ अपने इच्छित सत्य को प्राप्त करना चाहती है, जिसका परिणाम उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इन अभिव्यक्तियो से उन्हे मानसिक शक्ति प्राप्त होती है और अन्ततः वे बाह्य जगत् को परिवर्तित करने मे सफल होती हैं। इस प्रकार आदिम जातियों की कविता का जन्म जादू-टोने से ही हुआ है। कवि असम्भाव्य की कामना आखिर क्यो करते है? इसीलिए तो कि वे असम्भव को भी सम्भव बनाना चाहते है। कविता का यही प्रधान कार्य है और यह जादू-टोने का ही प्रभाव है। इससे मनुष्य मे मानसिक शक्ति और सन्तुलन उत्पन्न होता है और वह यथार्थ का सामना करने के लिए अधिक सशक्त हो जाता है।

श्रम-विभाजन के बाद

समाज मे श्रम-विभाजन प्रारम्भ होने के बाद सामूहिक भावनाओ के स्वरूप मे भी परिवर्तन हो जाता है। ऐसे समाज मे सरदार, पुरोहित और कुलीन-वर्ग के लोगो का प्राधान्य हो जाता है, अतः भावनाओ की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप मे न होकर व्यक्तिगत रूप मे होने लगती है, क्योंकि व्यक्ति तब समाज का लघु-रूप नही रह जाता, उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार कविता जादू-टोने और नृत्य-संगीत से विच्छिन्न होकर कुलीन व्यक्तियो और देवताओ का चित्रण करने लगती है; सामूहिक गीत, वीर गीतो और महाकाव्यो का रूप धारण कर लेते हैं, सामाजिक आख्यान व्यक्तिगत आख्यानो के रूप मे बदल जाते है; और अन्त मे कविता व्यक्ति की आन्तरिक अभिव्यक्ति—गीत-काव्य—बन जाती है। किन्तु इस अवस्था मे भी परम्परा का सर्वथा त्याग नही होता, यद्यपि सामूहिक श्रम से अलग हट-कर कविता विश्राम और एकान्त के क्षणो की वस्तु बन जाती है। फिर भी, सामूहिक संगीतात्मक काव्य का रूप-शिल्प, उसमे बहुत-कुछ पूर्ण-सा ही बना रहता है। उदाहरण-स्वरूप सामूहिक गीतो कुछ विशेष शब्दो और पंक्तियो की आवृत्ति की शैली बाद के वीर-गीतो मे भी दिखलाई पडती है। प्रारम्भिक सामूहिक गीतो मे नृत्य और वाद्य का योग रहता था। वीर-युग के वीर-गीतो मे भी नृत्य और संगीत का कुछ सहयोग अवश्य बना रहा और उनके रूप-विधान मे तुक, लय-तत्त्व और कल्पनाशीलता भी पूर्ववत् ही दिखलाई पडती है। वस्तुतः वीर-गीत का मूल रूप एक प्रकार का नृत्य ही था। जार्ज टामसन के कथनानुसार यूरोप के कुछ भागो मे कुछ वीर-गीत आज भी नृत्य रूप मे ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रारम्भ मे काव्य, संगीत और नृत्य का मूल रूप एक ही था, किन्तु समाज के विकास के साथ-साथ ये तीनो अलग-अलग कलाओ के रूप मे विकसित हुए। वीर-गीतो मे इन तीनो का एक सीमा तक मिश्रण दिखलाई पडता है। गीति-काव्य (lyric) भी प्रारम्भ मे वाद्य-यन्त्र (lyre) के साथ ही गाया जाता था, बाद मे उसका सम्बन्ध लायर से विच्छिन्न हो गया।

पहले कहा जा चुका है कि आदिम जातियो की भाषा मे काव्यात्मकता बहुत अधिक

होती है, एक तरह से उसमे प्रत्येक व्यक्ति कवि होता है। समाज के श्रम-विभाजन के बाद ही कवि, गायक अथवा काव्य-पाठ करने वालो का स्थान अलग दिखलाई पडता है। प्राचीन काल और मध्य काल मे भी कवि अपने समाज से भिन्न नही था। श्रोताओ और कवि के बीच मे शिक्षा तथा सस्कृति की दीवार नही थी, परिणामस्वरूप उसकी भाषा और शैली भी श्रोताओ की भाषा-शैली से भिन्न न थी। उसमे और अन्य लोगो मे भिन्नता इतनी ही होती थी कि उसे आशु कविता करने और पुरानी कविता का पाठ करने का अभ्यास अधिक होता था, परिणामस्वरूप प्राचीन लोक-गीतो और लोक-आख्यानो के रचयिता अज्ञात होते थे। ये कविताएँ नित्य-प्रति उद्भूत होतीं और समाज मे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक पीढी से दूसरी पीढी तथा एक युग से दूसरे युग तक यात्रा करती थी। इस यात्रा के बीच उनके रूप-रग, आकार-प्रकार, शैली तथा विचारो-भावनाओ मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता था। इस प्रकार उनमे बहुधा कलात्मक उत्कृष्टता नही रहती थी। वस्तुतः ये व्यक्ति की नहीं पूरे समाज की रचनाएँ होती थीं और आज भी अपढ, किसान-मजदूरो और आदिवासी जातियो के बीच इसी रूप मे प्रचलित दिखलाई पडती हैं। समाज मे व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र हो जाने तथा सभ्यता के प्रसार के बाद ही अलग-अलग कवियो की रचनाओ का प्रादुर्भाव हुआ। आदिम जातियो के कवि सचेत रूप से अलग-अलग काव्य-रचना नही करते थे बल्कि प्रत्येक कवि गायक या वाचक होता था और श्रोतागण भी उसके साथ ही काव्य-रचना मे सहयोग करते थे। वस्तुतः वह कविता लिखता नही गाता था, उसकी रचना नहीं करता था बल्कि अचेतन रूप से उसके मुख से कविता निकलने लगती थी, बिना श्रोताओ और सहयोगियो के वह यह कार्य नही कर सकता था। उसके श्रोता और साथी भी अपने 'स्व' से मुक्त होकर उस काव्य लोक मे पूर्ण रूप से रम जाते थे। यह परम्परा तब तक चलती रही जब तक वीर-गीतो, लोक-आख्यानो आदि मे सामूहिक भावना का योग बना रहा। सभ्यता के विकास के साथ तथा श्रम-विभाजनयुक्त वर्ग-समाज की स्थापना के बाद उच्च शिक्षित वर्ग के बीच से यह परम्परा धीरे-धीरे समाप्त होती गई।

महाकाव्यो का उद्भव इन्ही लोक-गीतो, लोकाख्यानो और वीर-गीतो से हुआ है। जैसा कहा जा चुका है कि वीर-युग के पूर्व के समाज मे कविता गीत-नृत्य आदि से भिन्न नहीं थी और कवि की सत्ता भी समाज से अलग नहीं थी, प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक कवि था। वीर-युग मे यह स्थिति बदल गई, सामूहिक गीतो के अगुआ ही इस युग मे गायक, व्याख्याता अथवा व्यास बन गए। यूरोप मे इन्ही लोगो मे चारणो (bards) की अलग जाति ही बन गई, भारत मे भी सूत, मगध, बन्दी, चारण आदि की परम्परा सम्भवतः इसी स्रोत से निकली। वीर-युग की परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो ने ही चारणो और कवियो को उत्पन्न किया। बर्बर-युग मे कबीले या जातियाँ अपने सामाजिक संगठन की सतत रक्षा करती रहती थीं फिर भी उन पर तरह-तरह की विपत्ति और संकट उपस्थित होते ही रहते थे। अन्य कबीलो और जातियों से युद्ध होने मे विजय और पराजय दोनो ही के बाद रक्त का, आचार-विचार आदि का मिश्रण अथवा आदान-प्रदान होता था। मिश्रण से नई जातियाँ बन जाती थीं, बहुधा दैवी विपत्तियों—यथा अकाल आदि के कारण या दूसरी जातियो द्वारा अपने मूल स्थान से भगा दिए जाने के कारण वे जातियाँ दूसरे स्थानो पर जाती और वहाँ की जातियो या कबीलो से संघर्ष करती

अथवा सम्पर्क स्थापित करती थी और जीने के लिए नई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालती थीं। इस सम्पर्क, संघर्ष और मिश्रण का उनकी बर्बर सामाजिक व्यवस्था पर गहरा धक्का लगता था, वह टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाती थी और नवीन व्यवस्था को स्थान देती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे आदिम बर्बर-व्यवस्था की जगह वीर-युग का प्रारम्भ हुआ, जिसमें व्यक्ति अपनी अदम्य वैयक्तिक सत्ता और शक्ति लेकर समाज के पुराने बन्धनों को तोड़कर सामने आया। इसी युग में सामन्त-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का उदय हुआ और समाज पेशे और कर्म के आधार पर विभिन्न वर्गों, जातियों और उपजातियों में बँटने लगा। पुरोहितों, राजाओं और चारणों या कवियों के वर्ग का उदय इसी काल में हुआ। महाकाव्य के उद्भव से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इनके—विशेषकर चारणों के—सम्बन्ध में यहाँ विशेष रूप से विचार कर लेना उचित है।

वीर-युग और चारण

वीर-युग, बर्बर समाज-व्यवस्था और पूर्ण सभ्य समाज-व्यवस्था के बीच की मंजिल है। समाज की रक्षा की भावना और जीने की आवश्यकता ने विवश किया कि इस युग में व्यक्ति अपनी शक्ति और साहस का परिचय औरों से भिन्न रूप में दे और उसके बदले ख्याति और सम्मान प्राप्त करे। इस प्रकार योद्धाओं और वीरों की अलग श्रेणी बन गई और राजतन्त्र या सामन्त-तन्त्र की स्थापना हुई, जिसमें "वीर भोग्या वसुन्धरा" का नियम स्वभावतः लागू हो गया। युद्धों में शौर्य प्रदर्शित करने वाला और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीलों का नेता या सरदार बना और मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने तथा मिथ्या विश्वासों का विशेषज्ञ पुरोहित या धार्मिक नेता बन गया। पहले कहा जा चुका है कि बर्बर-युग के आचार-विचार, गीत, नृत्य सभी उलझे हुए और परस्पर अविभाज्य थे। इस युग में श्रम-विभाजन के कारण वे अलग-अलग हो गए। इस तरह पुरोहित-वर्ग ने जाति के विश्वासों और मन्त्र-तन्त्र के आधार पर धर्म का विकास किया और गायकों, कवियों तथा चारणों ने उसी स्रोत से संगीत, कविता एवं पुराण-आख्यान का विकास किया। इस प्रकार युद्ध, धार्मिक कृत्य, संगीत, नृत्य, काव्य, कला, प्रारम्भिक विज्ञान आदि का स्वरूप अलग-अलग स्थिर हो गया। किन्तु सभी एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे। यह अवश्य है कि विभिन्न देशों और जातियों में इन सम्बन्धों का स्वरूप भिन्न-भिन्न था। यूरोपीय देशों में लौकिक कृत्यों पर धर्म का प्रभुत्व अधिक नहीं था, पर भारत में धर्म का प्रभुत्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत अधिक था। वीर-युग के प्रारम्भिक काल में धर्म का यह प्रभुत्व सम्भवतः उतना अधिक नहीं था पर बाद में पुरोहित या ब्राह्मण-वर्ग का महत्त्व निस्संदेह बहुत अधिक बढ़ गया था। इस तरह राजन्य-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का वीर-युग में सर्वाधिक प्रभाव था और संगीत, नृत्य, कविता आदि को इन्हीं का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। कविता को चारणों और गायकों (सूत-मागध आदि) के माध्यम से सरदार, सामन्त अथवा राजा का आश्रय प्राप्त हुआ और धर्म प्रत्येक कार्य में उसका सहायक बना। राजा-पुरोहित और कवि-गायक का यह सम्बन्ध प्राचीन वीर-गीतों और महाकाव्यों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है; वस्तुतः महाकाव्य का प्रारम्भ इन्हीं तीनों वर्गों के समान योगदान द्वारा हुआ; यह अवश्य है कि सामान्य जनता ने (जो अब पुरोहित और चारणों के वर्ग से भिन्न होकर श्रोता या दर्शक बन गई थी) इस प्रकार के काव्य में रस लेकर उसे प्रोत्साहित किया। इसका कारण यही है कि वीर-युग में यद्यपि व्यक्तिगत वीरता और शक्ति का सम्मान बढ़ गया था और महाकाव्य में इन्हींको नायक के रूप में अपनाया गया,

किन्तु पौराणिक विश्वासो का स्थान सामान्य जनता के हृदय मे बहुत-कुछ पहले-जैसा ही बना रहा और महाकाव्यो मे उसकी अभिव्यक्ति भी हुई।

विकसित मूल महाकाव्यो (Authentic epics) का प्रारम्भ और विकास करने वाले अधिकतर चारण (bards) अथवा सूत, मागध, बन्दी आदि ही थे। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। कहा जा चुका है कि बर्बर-युग मे ये वर्ग नही थे, वीर-युग मे ही इनका विकास हुआ। वीर-युग के प्रारम्भ होने के साथ ही इन वर्गों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ और न महाकाव्य ही रच डाले गए। व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र होने और उसके बल-वीर्य की महत्ता स्वीकृत होने पर स्वभावतः सामूहिक रूप मे ही वीर-गीतो (ballads) का विकास होने लगा। बर्बर-युग के पौराणिक विश्वासो का स्थान इस युग मे धर्म ने ले तो लिया किन्तु लोक-गीतो और लोक-विश्वासो मे पौराणिक अवस्था पूर्ववत् बनी रही। किसी वीर की ख्याति फैलते ही उसके सम्बन्ध मे अतिशयोक्ति और कल्पना का उपयोग किया जाना स्वाभाविक है, विशेषकर उस काल मे, जब कि न तो लिखने की प्रथा प्रचलित थी और न इतिहास का स्वरूप ही बन पाया था। इस तरह वीरो के सम्बन्ध मे निजन्धरी (legendary) कथाओ का प्रचलन हो गया। ये सभी (वीर-गीत, पुराण, इतिहास, निजन्धरी कथा) प्रारम्भ मे समाज की सामूहिक रचना के रूप मे थे, और अधिकतर लोगो को उनकी जानकारी रहती थी; किन्तु जब उनकी मात्रा और संख्या बढने लगी और श्रम-विभाजन के कारण, सबके लिए सब बातो का जानना सम्भव और आवश्यक नहीं रह गया तो कुछ लोगो ने ही इसमे अभ्यास द्वारा विशेषज्ञता प्राप्त की। प्रधानतया ये लोग उस श्रेणी के थे जो वर्बर-युग मे समवेत गीतो के अगुआ या मन्त्र-तन्त्र के विशेष अभ्यासी होते थे। समवेत गीतो का प्रचार धीरे-धीरे कम होता गया और अगुआ ही अकेला गाने लगा। बहुधा वह किसी वाद्य-यन्त्र के साथ गाता था। वाद्य-यन्त्र (जैसे लायर, वीणा, ढोल आदि) के साथ गाने की प्रथा भी बहुत दिनो तक चलती रही, पर बाद मे वाद्य-यन्त्र की संगत संगीत के लिए ही मान्य हो गई और वाद्य-यन्त्र से रहित शुद्ध मौखिक गीत ही कविता के रूप मे बदल गए। आज भी लोक-गीतो मे कविता और वाद्य-यन्त्र का साथ बराबर दिखलाई पडता है। हिन्दी मे 'आल्हा' एक वीर-गीत है, जो हमेशा ढोलक पर गाया जाता था। यूरोप मे चारण लोग लायर (वीणा) के साथ वीर-गीतो का गान या पाठ करते थे। भारत मे प्रसिद्ध पौराणिक गायक नारद ऋषि की वीणा प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार इन चारणो और गायको, व्यासो और कथावाचको ('कथकाः') ने वीर-गीतो, पुराण-इतिहासो, आख्यानो और निजन्धरी कथाओ को पीढ़ी-दर-पीढी आगे बढाया। कालान्तर मे उनके वंशजो का अलग वर्ग या जाति ही बन गई और उनके द्वारा विकसित आख्यानक काव्य महाकाव्य के रूप मे बदल गए।

वीर-युग सामन्त-तन्त्र का युग था, जिसमे शासन करने वाला ही सबसे योग्य समझा जाता था। यद्यपि इस युग मे सक्रियता बहुत थी, और वीरो को युद्ध करके अपनी योग्यता सिद्ध करना आवश्यक था फिर भी इस युग मे कुछ वर्गों—विशेषकर पुरोहित और गायक वर्ग के पास अवकाश भी बहुत था। इस वर्ग के लोग अपने अवकाश के समय मे अपने युग अथवा अपने वीरो की कीर्ति-कथा का गान करते थे। इस प्रकार वीर-गीतो की रचना होने लगी। ये वीर-गीत इतिहास नहीं होते थे, उनमे कल्पना और पौराणिकता का पर्याप्त योग रहता था। राज-दरबारो मे इन गीतो और उनके गायको का सम्मान होता था। धीरे-धीरे ये गायक और चारण

दरबारों के लिए आवश्यक हो गए और प्रत्येक सरदार या राजा के आश्रय में कोई-न-कोई चारण-कवि रहने लगा, जिसका काम अपने आश्रयदाता की विजय और वीरता की प्रशंसा में काव्य-रचना करना और इस तरह उसका सम्मान बढ़ाना था। इस प्रकार वीर-गीतों की परम्परा चारण-कवियों द्वारा आगे बढ़ाई जाने लगी। जब युद्धों के कारण ये दरबार समाप्त हो जाते थे तो चारण कवि अपने समकालीन राजाओं की प्रशंसा न करके पुराने राजाओं की कीर्ति के आधार पर निजन्धरी-कथाओं का निर्माण करके उनको गाते थे।

उन राजाओं के वंशज अपने पूर्वजों से सम्बन्धित आख्यानक-गीतों का बहुत सम्मान करते थे और इस तरह चारण-कवियों को आश्रय मिलता रहता था। ये चारण-कवि बहुधा पुराने गीतों का गान करते और आशु काव्य-शक्ति द्वारा आवश्यकतानुसार पुराने गीतों में कुछ-न-कुछ अपनी नई रचना भी मिलाते रहते थे। इस प्रकार वीर-गीतों के अनेक चक्र बनते गए। सम्भवतः एक चक्र की अनेक गाथाओं के मिश्रण और संश्लेषण से महाकाव्यों का रूप निर्मित हुआ। ये वीर-गीत न तो कोरे शुष्क इतिहास होते थे और न अलंकृत काव्य। उनमें वीरों की कीर्ति का छन्दोबद्ध वर्णन होता था जिससे ये गीत श्रोताओं को सहज ही में याद हो जाते थे और उनमें गेयता भी आ जाती थी। चारणों द्वारा मौखिक रूप से इनका प्रचार होता रहता था। किन्तु सभी लोगों का उन पर सहज अधिकार नहीं रहता था। चारणों के वंशजों को ये गीत और गीत-रचना की प्रतिभा उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होती थी। नई पीढ़ी के चारण अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त गीतों को अपने श्रोताओं और आश्रयदाताओं की रुचि के अनुरूप नया रूप-रंग प्रदान किया करते थे यद्यपि गीतों की मूल सामग्री बहुत-कुछ पुरानी ही रहती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे ये गीत अधिकाधिक अतिशयोक्तिपूर्ण और आश्चर्य-चकित करने वाले होते गए, क्योंकि इससे श्रोताओं का ध्यान आकर्षित होता था। लिखने की प्रथा न होने से इन गीतों का मूल प्राचीन रूप सुरक्षित नहीं रह सकता था; अगर लिखने की कला ज्ञात होती तो भी चारण इस कला को रहस्यमय बनाकर ही लिखते, क्योंकि इसी पर उनके जीवन-यापन की समस्या निर्भर करती थी। कुछ पीढ़ियों के बाद ही उन गीतों का स्वरूप बहुत कुछ बदल जाता था, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी के चारण अपने बाप-दादों से ही उन्हें प्राप्त करते थे, उससे पूर्व उन गीतों का क्या रूप था इसका ज्ञान उन्हें नहीं रहता था।

इस प्रकार वीर गीतों की परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही और किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रही है। हिन्दी में जगनिक का 'आल्हखण्ड' ऐसा ही वीर-गीत है जो अपने मूल रूप को बहुत-कुछ खो चुका है। उसे गाने वाले अब चारण-कवि नहीं बल्कि सामान्य जनता के गायक होते हैं जो ढोलक पर उसे गाते हैं और उसमें कल्पित आख्यान जोड़ा करते हैं। मैं स्वयं एक ऐसे आल्हा गाने वाले को जानता हूँ जिन्होंने मुझे बताया था कि जैसे आजकल कहानी-उपन्यास लिखे जाते हैं उसी प्रकार वे मूल कथा के आधार पर नई घटनाओं और उप-कथाओं का वर्णन आशु रूप से गाते समय करते जाते हैं। यही बात पुराने चारणों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। अतः इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि किसी वीर की छोटी-सी और कम महत्त्व की कथा भी कुछ पीढ़ियों बाद चारणों की आशु काव्य-प्रतिभा के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, आश्चर्यजनक और जातीय महाकाव्य का रूप धारण कर ले, सभी पुराने विकसित महाकाव्यों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है। इलियड और महाभारत की बात छोड़ दें, मध्य काल की रचना 'पृथ्वीराज-

रासो' ही को ले तो उससे भी यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है। इतना तो सर्वमान्य है कि सूतो, मागधो के इतिहास का पुराण-इतिहास-आख्यान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परवर्ती वैदिक साहित्य मे कई जगह इतिहास-पुराण को वेद के बराबर महत्त्व दिया गया है और उसे पंचम वेद तक कहा गया है, और अथर्ववेद के बाद ही उसकी गणना हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक संहिताओ की तरह इतिहास-पुराण की संहिता भी रही होगी, जो बाद मे पुराणो और महाकाव्यो के रूप मे विकसित हुई। इस बात के निश्चित प्रमाण है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे भी ऐतिहासिक और पौराणिक थे, जिन्हे 'वायु पुराण' और 'पद्म पुराण' ने सूत कहा है। विण्टरनित्स का मत है कि बौद्ध-काल तक गद्य और छन्द मे रचित इतिहास, आख्यान, पुराण और गाथाओ का असीम भण्डार था, जो बौद्ध जातको, थेरी गाथाओ जैन-पुराणो तथा गाथाओ और संस्कृत-महाकाव्यो के रूप मे आज भी किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित है। सूत, मागध इनमे पारंगत थे, जो राज-दरबारो मे रहते और राजाओ की मर्यादा और ख्याति बढ़ाने के लिए पुरानी गाथाओ के साथ अपने आश्रयदाताओ और उनके पूर्वजो की प्रशंसा मे भी आख्यान रचते और गाते थे। राजाओ के साथ वे युद्धो में भी जाते और स्वयं उनकी वीरता देखकर उसका वर्णन करते या उन्हे प्रोत्साहित करते थे। 'महाभारत' के संजय सूत ही थे, जिन्होने धृतराष्ट्र को भारत-युद्ध की कथा सुनाई थी। उसी तरह नैमिषारण्य मे 'महाभारत' को तीसरी बार गाकर सुनाने वाले लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा भी सूत ही थे। सूतो ने इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथाओ की परम्परा को न केवल सुरक्षित रखा, बल्कि वे उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी उत्तरोत्तर समृद्ध भी करते रहे। इस प्रकार एक चक्र की अनेक कथाओ के संश्लिष्ट विकास से महाकाव्यो—विशेषकर 'महाभारत' का स्वरूप निर्मित हुआ। सूतो के अतिरिक्त कुशी-लव नामक एक जाति भी थी, जो जनता के बीच वाद्य-यन्त्र पर गीत गाती थी और उन्हीके कारण वीर-गीतो और आख्यानो का प्रचार जनता मे होता था। इस प्रकार सूत राज-दरबारो के और कुशीलव जनता के बीच के गायक थे। 'रामायण' मे कुश और लव को वाल्मीकि से सीखे गए 'रामाख्यान' को जनता के बीच घूम-घूमकर सुनाते दिखाया गया है। रामायण मे कुश-लव की यह कथा चाहे बाद मे ही क्यो न जोड़ी गई हो, किन्तु इससे पता चलता है कि रामाख्यान को गानेवाली कोई जाति अवश्य थी, जिसने कुश और लव से अपना सम्बन्ध स्थापित करके अपना सम्मान बढ़ाने के लिए अपना नाम कुशीलव रख लिया था। होल्ट्ज़मैन ने अपनी पुस्तक 'डास महाभारत' और जैकोबी ने 'डास रामायण' मे कुशीलवो के सम्बन्ध मे अपना यही मत व्यक्त किया है। इस प्रकार हम देखते है कि सूत, मागध, बन्दी, वैतालिक और गायको का इतिहास सुदूर अतीत से ही मिलने लगता है। अनेक देशो मे अत्यन्त प्राचीन काल से राज-दरबारो मे उन्हे अत्यधिक सम्मान प्राप्त होता रहा है। उनका काम देवताओं, ऋषियो और ख्यात राजाओ का वंशानुक्रम सुरक्षित रखना और वीरो की कीर्ति-कथा का गान करना था। इसीलिए सूतो को 'पौराणिक' और 'वंशकुशल' भी कहा गया है। इन लोगो के वंश-परम्परा द्वारा परम्परागत वंशावली, इतिहास, आख्यान आदि को स्मृति मे सुरक्षित रखने और गाते रहने का ही यह परिणाम था कि बाद मे पुराणो और महाकाव्यो का रूप सामने आया।

यूरोप के महाकाव्य

यूरोप मे भी महाकाव्यो का विकास वीर-गीतो से ही हुआ, जिन्हे चारण लायर या तान-

पूरे के साथ गाते थे; होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्यों में इसका उदाहरण मिलता है। 'इलियड' का नायक आचिलेस स्वयं लायर बजाता और वीरो का आख्यान गाता था। 'ओडेसी' मे पेशेवर चारणों की चर्चा कई जगहो पर आई है। उनसे यह भी पता चलता है कि उस काल के चारणो की कला को देवताओ या सरस्वती का वरदान माना जाता था। होमर के बाद ऐतिहासिक काल मे आशुकवियो या गायकों (Rhapsodes) का उदाहरण मिलता है जो साधारण जनता के बीच काव्य-गान करते थे। वे प्रायः स्वरचित या परम्परागत काव्यों को गाते थे। ६०० ईसा पूर्व मे यूनान मे होमर के काव्यो का गान जनता के बीच मे होता था और उसके पहले भी अवश्य होता रहा होगा। चियास द्वीप मे 'होमराइड' नामक एक जाति पहली शताब्दी मे थी, जो अपने को होमर का वंशज बताती थी और जो सम्भवतः पेशेवर चारणो की जाति थी। होमर की कविताएँ गाई नही जाती थी, बल्कि उनका पाठ होता था, किन्तु गाने वाले अपने हाथ मे एक विशेष प्रकार की लकडी या सोटा लिये रहते थे। सम्भवतः वह पूर्ववर्ती गाने वालो के लायर की जगह रूढि के रूप मे प्रयुक्त होता था। इससे पता चलता है कि 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्य किसी समय लायर के साथ गाए जाते थे। इनके गाने वाले चारणो के पूर्वज शुरू मे यूनान के सरदारो और राजाओ के दरबारो मे रहते और उनकी वीरता तथा यश का गान करते थे। इस प्रकार तत्सम्बन्धी वीर-गीतो की परम्परा चल पडी थी। ट्राजन-युद्ध के बाद के यूनान की सामन्ती व्यवस्था की विशेषताओ, विशेषकर तत्कालीन शासक-वर्ग के शारीरिक बल और व्यक्तिपरक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति उन वीर-गीतो मे होती थी। बाद मे जब यूनानी शासक लगातार आक्रमणो से छिन्न-भिन्न होकर एशिया माइनर मे चले गए तो वहाँ उनके दरबारो मे 'इलियड' और 'ओडेसी' से सम्बन्धित वीर-गीतो का गान होने लगा। उन्ही बिखरे-गीतो का धीरे-धीरे संश्लेषण होकर 'इलियड' और 'ओडेसी' का स्वरूप विकसित हुआ।

चाडविक ने अपनी पुस्तक 'वीर-युग' (Heroic Age) मे ट्यूटानिक जातियो मे वीर-गीतो और महाकाव्यो के विकास का पूर्ण रूप से विचार किया है। उनके मतानुसार जर्मनी मे वीर-काल या अन्धकार-युग के बहुत पहले ही टेसिटस ने लिखा था कि जर्मनी मे बहुत-से प्राचीन गीत प्रचलित थे। सीडानियस और वेनाण्टियस फार्डिनेट्स की कविताओ से भी ट्यूटानिक जाति के चारण-कवियो का प्रमाण मिलता है। एंग्लो सैक्सन जाति की कविताओं से भी इस बात के प्रमाण मिलते है कि वहाँ चारण-कवि दरबारो मे वीर-गीत गाया करते थे। रूसी वीर-गीतो के सम्बन्ध मे भी यही बात दिखलाई पडती है। उन गीतो के कुछ वीर तो स्वयं चारण थे। मिस हैपगुड ने अपनी पुस्तक 'एपिक साग्स ऑफ रशिया' मे लिखा है कि रूस मे चारण-कवि बाद मे दरबारो से हटकर जनता के बीच चले गए और आज भी वे घूम-घूमकर धार्मिक गीत गाते है। मध्ययुग मे रूस मे क्रिश्चियन चर्च के कारण वीर-गीतो और महाकाव्यो का प्रचार दरबारो से उठ गया और किसानो के बीच उनकी रक्षा हुई।

विकास की तीन मंजिलें

सभी देशो मे महाकाव्य के विकास की तीन मंजिले दिखाई पडती है। पहली मंजिल वीर-युग मे होती है, जब कि उसी युग के चारण-कवि वीरो के दरबारो मे रहकर उनकी प्रशंसा के गीत गाते है। मूल 'महाभारत' और 'रामायण' की रचना सम्भवतः इसी युग मे हुई थी। 'इलियड' और 'ओडेसी' के मूल रूपो के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। बीयोउल्फ के

साहसपूर्ण कार्यों का वीर-गीत के रूप मे प्रारम्भ वीर-युग मे ही हो गया था। वीरो के मरने के बाद भी उनकी गाथा गाई जाती थी, धीरे-धीरे एक वीर से सम्बन्धित अनेक गीत कुछ पीढियो के बाद मिलकर एक हो जाते थे। यही महाकाव्य कहलाने लगते थे। यह महाकाव्य के विकास की दूसरी मंजिल है। इस मंजिल पर महाकाव्य का रूप लचीला होता है अर्थात् उसे गाने या पाठ करने मे चारणो को स्वतन्त्रता होती है कि वे अपनी रुचि के अनुसार उसमे कुछ जोडे या घटाएँ, क्योंकि अतीत की कथा के श्रोताओ को निश्चित जानकारी नही रहती। तीसरी मंजिल मे प्राचीन वीरो के आख्यान का सामान्य जनता अपने ढग से रूप बदलती रहती है; वे निजन्धरी कथा का रूप धारण कर लेते है, उनमे मूल कथा का ढाँचा तो बना रहता है किन्तु उसमे नवीन मास-रक्त भरकर पहले की कई असम्बद्ध गाथाओ के मिश्रण द्वारा उसे नवीन रूप दे दिया जाता है। 'महाभारत' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। यूनान के हिसियड का काव्य इसी मंजिल का है। रूस मे १९वी शताब्दी मे किसानो के यहाँ से प्राप्त महाकाव्यो को भी इसी मंजिल का समझना चाहिए। इस प्रकार इस मंजिल मे वीर-गीत दरबारो से निकलकर जनता की वस्तु बन जाते है। हिन्दी मे 'आल्हखण्ड' इसी प्रकार का वीर-काव्य है। भारतीय महाकाव्यो के विकास के सम्बन्ध मे प्रोफेसर एन० के० सिद्धान्त का मत है कि पहली मंजिल के वीर-गीत वे है जिनकी रचना महाभारत-युद्ध के काल मे हुई थी। उस काल के राजाओ के चारण पुरोहित-वर्ग के नही क्षत्रिय या वीरो के वर्ग के होते थे, उनका सम्मान कम नही था। पुरुरवा, नहुष और ययाति की कथाएँ इसी मंजिल की है। दूसरी मंजिल मे प्राचीन दरबारी वीर-गीतो के आधार पर महाकाव्य का मूल रूप निर्मित हो गया। मूल 'भारती-कथा' उसी मंजिल की रचना रही होगी जिसमे पुरानी वीर-गाथाएँ उपाख्यान के रूप मे सम्मिलित कर ली गई थीं। तीसरी मंजिल पर राजनीतिक परिस्थितियो मे बहुत परिवर्तन आ गया था। छोटे-छोटे राज्यो के स्थान पर बड़े साम्राज्य स्थापित हो गए थे जिनसे उन दरबारो मे सूत-मागधो की संख्या भी कम ही रही होगी; अतः अधिकाश सूत-मागध जनता के बीच काव्य-गान करने लगे। ब्राह्मणो के प्रभाव से भी सूत-मागधो का महत्त्व कम हो गया और धीरे-धीरे ब्राह्मणो ने पुराण-आख्यान पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि महाकाव्य भी धार्मिक रग मे रंग गए, उनकी मूल कथा के वीर पात्रो का महत्त्व कम हो गया और धार्मिक आख्यान और उपदेश ही प्रधान हो गए। 'महाभारत' के पञ्चम वेद माने जाने का यही कारण है। इस काल मे पुरोहित ही पौराणिक बन गए, पर वे सूत मागध नही थे और दरबारो से उनका आश्रित रूप मे ही सम्बन्ध रह गया; क्योंकि उनकी धार्मिक कथाओ का राजा और सामान्य जनता सभी धार्मिक भावना के कारण सामान्य रूप आस्वादन करते थे।

इस प्रकार महाकाव्य के उद्भव और विकास की कहानी युगो की धारा मे बहने वाले वीर-गीतो, आख्यानो, निजन्धरी कथाओ और ऐतिहासिक पुरुषो के विकास की कहानी है, जिन्हे निर्मित करने वाला कोई एक या कुछ व्यक्ति नही है; बल्कि युग-युग के मानव-समाज ने मिलकर अपने-अपने देश मे अपने-अपने ढग से इनका निर्माण किया है। प्रारम्भिक विकसित महाकाव्यो की तुलना हम प्रवाल-द्वीपों से कर सकते है। ये महाकाव्य न जाने कितने युगो मे कितने कण्ठो से निःसृत होकर और कितनी प्रतिभाओ की शक्ति से रूप ग्रहण करके आज अपना वर्तमान रूप प्राप्त कर सके है। लिखने की प्रथा प्रारम्भ होने बाद उनके स्वरूप मे कुछ स्थिरता

अवश्य आई, किन्तु 'महाभारत', 'रामायण' या 'रासो' आदि महाकाव्यों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी परस्पर बहुत भिन्नता दिखलाई पड़ती है; सम्भवतः लिखने वालों की अपनी रुचि, अज्ञान और साम्प्रदायिक पूर्वग्रह के कारण प्राचीन पाण्डुलिपियों में इतना अन्तर पाया जाता है। किन्तु छपाई का आविष्कार हो जाने के बाद अब महाकाव्यों के विकसित होने की सम्भावना नहीं रह गई है, अपढ़ जनता में प्रचलित वीर-गीत भी अब बहुत-कुछ लिपिबद्ध करके प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनसे उनके भी विकसित होने की सम्भावना अब कम हो गई है। सारांश यह है कि महाकाव्यों का उद्भव वीर-युग में होता है, सामन्त-युग उन्हें विकसित करता है और पूँजीवाद के वैज्ञानिक युग में उनका विकास रुक जाता है। विकसित सभ्य-समाज में महाकाव्यों का विकास नहीं होता।

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी

'कामायनी' की कथा

[क] ऐतिहासिकता

: १ :

प्रसाद की 'कामायनी' की कथा इतिहास है या रूपक, इसका निर्णय करने के लिए बहुत अधिक शोध या तर्क की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रसाद ने इस सम्बन्ध में स्वयं ही अपना मत अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिख दिया है। परन्तु साधारणतः इतिहास के सम्बन्ध में लोगों की जो धारणा बँधी हुई है, प्रसाद की दृष्टि उससे कहीं अधिक व्यापक है; जिसके कारण वह इतिहास को लेकर मनोविज्ञान और अध्यात्म से भी उलझी हुई प्रतीत होती है। अतः उनके स्पष्ट कथनों की भी किंचित् व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

अपने 'कामायनी-दर्शन'[1] शीर्षक लेख में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रसाद ने भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रधान विचार-धारा (दृष्टि, दर्शन) को अपने अध्ययन, मनन और अनुभव से जिस रूप में समझा था उस रूप में जीवन की ही सत्य वस्तु समझकर उन्होंने 'कामायनी' की कथा में उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। 'कामायनी' की कथा में पिरोए हुए दार्शनिक तत्त्वों को देखने से स्वभावतः यह धारणा होने लगती है कि वह एक दार्शनिक, आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक रूपक है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद के ऐतिहासिक विवेचन और कथन उसी प्रकार इस धारणा को भी पुष्ट करते हैं कि उनकी दृष्टि जितनी दार्शनिक या आध्यात्मिक थी उससे किसी प्रकार कम ऐतिहासिक न थी। स्वयं उन्हीं के कथनानुसार यद्यपि 'कामायनी' की कथा-शृंखला मिलाने के लिए उन्होंने थोड़ी-बहुत कल्पना से भी काम लिया है, तथापि कथा का आधार ऐतिहासिक ही है। उसकी मुख्य घटनाएँ और पात्र ऐतिहासिक हैं। यथा :

१. 'इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।'

२. 'जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है।'

३. 'मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं।'[2]

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', केशव-स्मृति-अंक, सं० २००८।

२. 'कामायनी', भूमिका।

इसी प्रकार 'कामायनी' की भूमिका से यह भी स्पष्ट है कि देवगण, उनका उच्छृङ्खल स्वभाव, जल प्लावन से उनका विनाश, उसके बाद मनु और श्रद्धा की उजड़ी सृष्टि को फिर से बसाने का प्रयत्न, किलाताकुली की सहायता से पशु-बलि, फिर इडा के मिलने पर बुद्धिवाद का विकास इत्यादि को भी प्रसाद ऐतिहासिक तथ्य ही मानते हैं। इस इतिहास के अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसमें रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है, इसीलिए वे कहते हैं :

'श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'[1]

तात्पर्य यह कि 'कामायनी' की कथा को रूपक मानना-न-मानना आपकी इच्छा पर है, परन्तु इतिहास तो वह अवश्य है। साथ ही प्रसाद भली भाँति जानते थे कि आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि उस कथा को इतिहास मानने में अवश्य ननु-नच करेगी। उन्होंने मूल कथा 'ऋग्वेद' और 'शतपथ' से ली है, जिनके समय और ऐतिहासिकता का विषय निर्विवाद नहीं है। अतः वे अपना पक्ष इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

'प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है······घटनाएँ कहीं कहीं अतिरंजित भी जान पड़ती हैं। तथ्य संग्रहकारिणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है, किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।'[2]

वैदिक साहित्य, जहाँ से प्रसाद ने अपनी मूल-कथा ली है, उनकी दृष्टि से इतिवृत्त ही है,[3] भले ही वह 'भावपूर्ण' हो और घटनाएँ कहीं-कहीं 'अतिरंजित' हों। यदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को इतिहास न मानें, तो भी 'कामायनी' की मूल कथा तो उसका 'घटना से सम्बद्ध सत्यांश' ही है। परन्तु यदि कोई उसे रूपक मानने का ही आग्रह करे, तो बिना किसी विवाद में उलझे हुए प्रसाद कहेंगे :

'हो सकता है। यदि वह रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। वह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं, तब भी हम घटना-मात्र से सन्तुष्ट न रहकर उसके मूल में कोई मनोवैज्ञानिक तथ्य ही ढूँढते हैं।' अर्थात् रूपक मानने पर वह रूपक भी इतिहास ही होगा। स्थूल, घटना-सम्बद्ध इतिहास न सही, फिर भी वह अत्यन्त भव्य इतिहास होगा—सूक्ष्म,

१. 'कामायनी' भूमिका।
२. वही।
३. वेद को इतिहास मानें या रूपक, इस प्रश्न पर विवाद आधुनिक नहीं, बहुत प्राचीन है। प्राचीन काल में भी कुछ लोग उसे इतिहास मानते थे—वे 'ऐतिहासिक' कहलाते थे, और कुछ उसका 'निरुक्त' से बुद्धिपरक संगत अर्थ लगाकर उसे रूपक मानते थे—वे 'नैरुक्त' कहलाते थे। प्रसाद ने अपने को ऐतिहासिकों के वर्ग में रखा है।
—'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' (ना० प्र० सभा, बनारस), पृष्ठ १७६।

मनोवैज्ञानिक ।

परन्तु इतने से भी प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि का पूरा रूप सामने नहीं आता । वह तब पूरा होता है जब वे 'घटना' का मूल रहस्य स्वयं बतलाते हैं :

'...... 'उस घटना के मूल में क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति । हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है । फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती है । किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है ।'

इस प्रकार वे स्थूल घटनाओं के इतिहास तथा मनोविज्ञान से भी ऊपर उठकर आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच जाते हैं, जो उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह का कारण उपस्थित करता है । परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो इस सन्देह का कोई वास्तविक आधार नहीं है । बिलकुल स्पष्ट है कि प्रसाद की दृष्टि में भाव चिरन्तन सत्य है, घटना क्षणिक । एक सूक्ष्म है, दूसरा उसीका स्थूल रूप । सत्य दोनों है । स्थूल और क्षणिक होने के कारण दूसरा कम सत्य, अथवा उपेक्षणीय नहीं । इस प्रकार प्रसाद की आध्यात्मिक दृष्टि उनके ऐतिहासिक शोध और विवेचन के विरुद्ध न जाकर उसे एक दृढ़तर भूमिका ही प्रदान करती है ।

: २ :

उक्त प्रकार से प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि को समझ लेने के बाद, 'कामायनी' का ऐतिहासिक रूप और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम देव-निवास स्वर्ग, देवराज इन्द्र तथा देव-संस्कृति की भौमिक स्थिति और सत्यता के सम्बन्ध में प्रसाद के विचारों से अवगत होते हैं । प्रसाद ने जिन देवों की उच्छृङ्खल और विलासी प्रकृति तथा शक्ति का वर्णन किया है वे उनके मत से किसी आकाशस्थ स्वर्ग के कल्पित निवासी न थे । उनकी वास्तविक भौमिक सत्ता थी । उनकी निवास-भूमि स्वर्ग अवश्य थी, पर वह स्वर्ग इसी धरती पर मेरु-पर्वत पर स्थित था । वे देव और कोई नहीं, आर्यों के अग्रजन्मा[1] थे । देवराज इन्द्र प्रथम चक्रवर्ती आर्य सम्राट् थे ।

यह सब प्रसाद ने केवल कल्पना की उड़ान पर नहीं कहा । तिलक, अविनाशचन्द्र दास, सत्यव्रत सामाश्रमी, पार्जीटर, मैकडानल्ड, मार्शल-जैसे धुरन्धर विद्वानों ने आर्यों की निवास-भूमि के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किये हैं उनका तथा प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन-मनन करके उन्होंने स्वतन्त्र रूप से इस विषय में अपना मत स्थिर किया । एतत्सम्बन्धी अपने विचार उन्होंने विस्तृत रूप से अपने 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'[2] शीर्षक लेख में प्रकट किये हैं । अपनी ऐतिहासिक रचनाओं की भूमिका वे अपने स्वतन्त्र अध्ययन के आधार पर ही स्थिर करते थे यह उनके नाटकों से भी विदित होता है । यहाँ हम उनके आर्यावर्त-सम्बन्धी उक्त लेख से उनके आवश्यक निष्कर्ष उद्धृत करेंगे, जिनसे 'कामायनी' की ऐतिहासिक और भौगोलिक भूमिका समझने में सहायता मिलेगी ।

आर्यों की सभ्यता को पाश्चात्य इतिहासविदों ने ऋग्वेद के मन्त्रों के आधार पर पहले

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु)

२. 'प्रसाद-स्मारक-संग्रह' (ना. प्र. सभा, काशी), पृष्ठ १५५-१६४ ।

अधिक-से-अधिक ईसा से २००० वर्ष पूर्व की माना था। तिलक ने ज्योतिष के आधार पर प्रमाणित किया कि ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्र ई० पू० ६००० के बाद नहीं हो सकते। प्रसाद ने आर्य-सभ्यता को इससे भी पहले की ही माना है। उनके मत से 'बाइबिल' मे वर्णित जल-प्रलय के आधार पर आर्य-सभ्यता का काल ई० पू० २००० के भीतर स्थिर करना (जैसा कि पाश्चात्य विद्वानो ने किया है) भ्रमात्मक है। 'बाइबिल' मे वर्णित जल-प्रलय की घटना ऋग्वेद से पीछे की है। आगे वे लिखते हैं :

'अब हमें पहले उस देश को खोजना होगा जहाँ ये अग्रजन्मा उत्पन्न हुए थे। आर्यों के अग्रजन्मा देव थे, ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्य शास्त्रो की सम्मति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता हमारे साहित्य मे "मेरु" नाम से लगता है।'[1]

यह मेरु 'महाभारत' तथा 'बृहत्संहिता' आदि ग्रन्थो मे उत्तरकुरु के पास बताया गया है। उत्तरकुरु हिन्दूकुश के पास बलख से लेकर स्वात और उत्तरी कश्मीर तक का प्रदेश था। इसकी प्रधान नगरी सिकन्दर के समय मे निकाय नाम से विख्यात थी। इसीके पास के पर्वत को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। इसी मेरोस या मेरु को अब 'कोह मोर' कहते है। ग्रीको ने इसे 'त्रिश्रृङ्ग' कहा है और ऋग्वेद मे इसे 'त्रिककुद' तथा पुराणो मे 'त्रिकूट' लिखा है। यह शैलमाला तथा उच्च भूमि मेरु-परिवार-रूप से आर्य साहित्य मे अत्यन्त पवित्र मानी गई है। इसीके आस-पास की—अफगानिस्तान, कश्मीर तथा बलख के बीच की—रमणीय भूमि देवो का स्वर्ग तथा पारसीको का प्रथम आर्य-निवास (Ariyana vaijo) थी।

निशाय और मेरु को मेगस्थनीज ने भारत की सीमा के भीतर लिखा है। यह आर्यों के अग्रजन्मा देवो की मूल भूमि थी। इसका पूर्ण विस्तृत रूप पीछे आर्यावर्त या भारत कहलाया। पर आर्यावर्त का वैदिक विस्तार केवल हिमालय और विन्ध्य के बीच सीमित न था।

अनेक विद्वानो ने सप्तसिन्धु प्रदेश—सिन्धु समेत सात नदियो के देश—को वैदिककालीन आर्यावर्त माना है। परन्तु प्रसाद ने ऋग्वेद मे 'प्रसप्त सप्त मेधान्...' आदि मन्त्रो का भिन्न अर्थ करके सात-सात नदियो वाले तीन सप्तक—गंगा, सिन्धु और सरस्वती के माने है और इसी त्रिसप्तक प्रदेश को वैदिककालीन आर्यावर्त स्थिर किया है। इनमे गंगा सप्तक की पूर्वी सीमा सदानीरा थी। सिन्धु-सप्तक प्रसिद्ध ही है। तीसरा प्रसाद के अनुमान से सरस्वती-सप्तक है। यह सरस्वती सिन्धु-सप्तक वाली सरस्वती से भिन्न है। 'अवेस्ता' मे इसका नाम 'हर हैवती' मिलता है। हारून से कन्दहार तक की नदियो के सप्तक की यह प्रधान नदी थी। इस सप्तक का प्रदेश दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान मे था। तीनो सप्तको की विस्तृत भूमि आर्यों का लीला-निकेतन थी।

त्रिसप्तक वाले सम्पूर्ण आर्यावर्त की सीमा उत्तर मे वाल्हीक से दक्षिण मे ऋक्कालीन राजपूताना समुद्र तक और पश्चिम मे हेलमन्द से पूर्व मे गंगा की घाटी तक थी। मगध, अंग, मीडिया और मेसोपोटामिया भी आर्य प्रदेश ही थे, पर इनमे आर्यों को अनार्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलम्बी लोगो—असुरो—से संघर्ष-रत रहना पडता था। सरस्वती की घाटी मे भी उस समय आर्यों और असुरो—वरुण के उपासक आर्यों—का संघर्ष चल रहा था। इसीसे

१. प्रसाद जी का लेख, 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' ('कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' में प्रकाशित), पृष्ठ १६१।

सरस्वती को वृत्रघ्नी भी कहा गया है।

उस समय द्रविडों से आर्यों का संघर्ष सम्भव न था, क्योंकि जिस दक्षिण महाद्वीप में द्रविडों की जन्मभूमि थी वह आर्यावर्त से राजपूताना समुद्र द्वारा पृथक् थी।

प्रसाद के मत से उस समय के आर्यावर्त की स्थिति कुछ इसी प्रकार की रही होगी जैसी मानचित्र में दिखाई गई है।
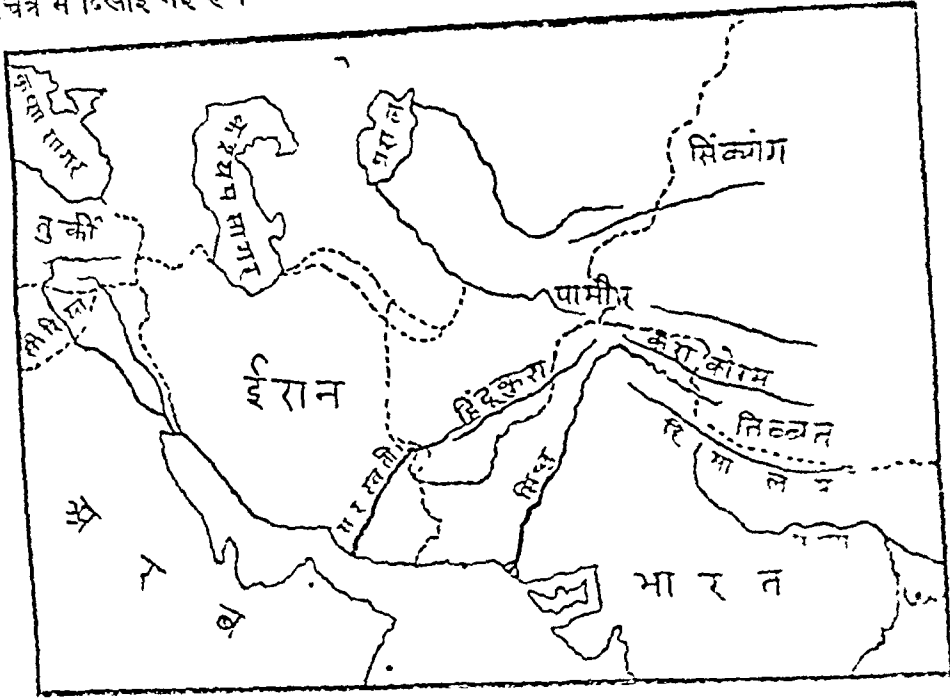
उस समय के आर्यों में आकाशी देवों की उपासना प्रचलित थी। भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य-बुद्धि थी। इन आकाशी देवताओं के राजा वरुण माने जाते थे। वरुण की उपासना चन्द्रमा की उपासना से सम्बद्ध थी। वेदों में वरुण को प्रायः असुर कहा गया है। आर्यों के अग्रजन्मा देवों में जब कालान्तर में विचार-परिवर्तन हुआ तो उनके दो प्रधान भेद हो गए—एक वरुणोपासक, दूसरा इन्द्र का अनुयायी। असुर-नेता त्वष्टा से इन्द्र के विरोध ने धीरे-धीरे देवासुर-संग्राम का रूप धारण किया। अन्त में इन्द्र की विजयों के फलस्वरूप आर्यावर्त के त्रिगर्तक प्रदेश से असुर-उपासक आर्यों को हटना पड़ा। यह घटना ७५०० ई० पू० से भी पहले की है। यह आर्य-सभ्यता के इतिहास का प्रारम्भिक अध्याय है, जब इन्द्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापित किया।

: ३ :

आर्यावर्त और आर्यों—अथवा स्वर्ग और उसके निवासी देवों—के सम्बन्ध में प्रसाद के उपर्युक्त विचारों से मतभेद होना और बात है, शोध और गवेषणा के निष्कर्ष कभी मतभेदों से शून्य रहते ही नहीं। फिर भी यह निश्चित है कि जिस प्रकार 'जनमेजय' से 'राज्यश्री' तक भारतीय संस्कृति के विभिन्न चित्र प्रसाद ने अपने नाटकों में उपस्थित करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार अत्यन्त प्राचीन ऋग्वेदकालीन देव-संस्कृति की उन्नति और विनाश तथा उसके बाद नवीन मानव-संस्कृति के उदय का भी चित्र उन्होंने 'कामायनी' में उपस्थित किया। इन सभी चित्रों को उन्होंने शास्त्रों और प्रमाणों से पुष्ट तथा दृढ़ ऐतिहासिक आधार पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है।

वे प्राचीन ऋक्‌कालीन आर्य (देव) ही जब भौतिक शक्तियो पर अधिकार करके उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गए तो उनमे अहंकार, उच्छृ्ङ्खलता और विलासिता ने घर कर लिया। जल-प्रलय मे उनका नाश हो गया तब अकेले मनु उनके प्रतिनिधि रूप बच रहे थे। पीछे भटकते-भटकते काम-बाला श्रद्धा भी आ मिली। मनु भी देव प्रकृति के ही थे। प्रलय से त्रस्त हुए थे, पर पीछे उनकी देव-प्रकृति जागने लगी थी। असुर-पुरोहितो ने पशु-बलि करके उन्हे और भडकाया। फलस्वरूप उनकी अतृप्त वासनाओ ने उन्हे श्रद्धा से दूर कर दिया। फिर उन्हे इडा मिली, जिसकी सहायता से उन्होने नगर बसाए और शासन-तन्त्र संगठित किया। परन्तु स्वाभाविक अतृप्ति और असन्तोष ने उन्हे वहाँ भी ठोकर खिलाई। अन्त मे श्रद्धा पुनः पुत्र सहित उनमे आ मिली। सबके अन्त मे एक परिवार के रूप मे सबका सुखद मिलन हुआ। यही वह समय था जब प्रथम बार देव-संस्कृति से भिन्न नवीन मानव-संस्कृति का उदय हुआ।

[ख] जल-प्लावन

सृष्टि के नवविधान का आरम्भ 'कामायनी' मे जल-प्लावन से होता है। 'हिमालय के उच्च शिखर पर शिला की शीतल छाया मे एक पुरुष भीगे नयनो से प्रलय का प्रवाह देख रहा है। नीचे तरल जल है, ऊपर सघन हिम; किन्तु दोनो मे एक ही तत्त्व की प्रधानता है······'

'कामायनी' की जल-प्लावन-कथा की मूल प्रेरणा यद्यपि भारतीय साहित्य—विशेषतया 'शतपथ ब्राह्मण' है, तथापि अनेक ग्रन्थो मे बाढ़ का वर्णन प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण, पुराण, बाइबिल तथा अवेस्ता, ग्रीक, बेबीलोनिया, चीन आदि के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थो मे जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप मे मिलती है। एण्ड्री का कथन है कि संसार के ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ पर इस जल-प्लावन-कथा का कोई निर्देश नही प्राप्त हो सका। मिस्र, जापान आदि ऐसे ही देश है। अफ्रीका मे भी इस कथा का प्रचलन नगण्य-सा है। इस कारण एक सार्वभौमिक जल-प्लावन को नही स्वीकार किया जा सकता।[1] यह मत केवल अठारहवी शताब्दी तक ही प्रचलित था कि जल-प्लावन का रूप विश्व-व्यापी है।

जल-प्लावन-कथा का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य है। यह कथा धार्मिक ग्रन्थो मे वर्णित होने के कारण अत्यधिक दैवी रूप मे चित्रित की गई है। उसे प्रायः एक ईश्वरीय प्रकोप के रूप मे स्वीकार किया गया है जिसकी सूचना पूर्व ही किसी प्रकार ससार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को मिल जाती थी। उस प्रलय-दशा मे वही शेष रह जाता था, जो आगे चलकर पुनः सृष्टि का नवनिर्माण करता था। इसी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण सत्य घटना को भी गाथा का रूप दे दिया गया है। अन्यथा भूगर्भ-शास्त्र के विद्वान् भी इसे स्वीकार करते है कि:

'समय-समय पर भू भाग मे सागर भर जाते हैं, सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है। ये पर्याप्त समय तक रहते हैं। इस स्थिति मे पृथ्वी का ऊँचा भाग जल में विनष्ट हो जाता है। अन्त मे जल कुछ नीचे उतरने लगता है और कुछ भाग पर्वत-श्रेणियों में परिवर्तित हो जाता है। इस अवसर पर ज्वालामुखी विस्फोट भी सम्भव है। जल मे अनेक वस्तुएँ एकत्र होकर

1. Encyclopedia of Religion and Ethics—Article on Flood—by R. Andree Die flutsagen.

स्थिति बदल देती है।'[1]

इस भाँति पृथ्वी पर सागर और उसके अनन्तर पर्वत का उदय होता है। इस क्रिया के कारणों के विषय में यद्यपि भूगर्भ-शास्त्र के विद्वानों में मतभेद है तथापि उसके अस्तित्व को सभी स्वीकार करते हैं। होम्स, वेगर आदि कई विद्वानों ने इस वैज्ञानिक क्रिया का समर्थन किया है।

भारतीय जल-प्लावन की कथा का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हुए कवि प्रसाद ने डॉ० ट्रिकलर, होर्नसा आदि विद्वान् वैज्ञानिकों का मत उद्धृत किया है।[2] डॉ० ट्रिक्लर का अनुमान है कि बालुका में दबे हुए प्राचीन ध्वसावशेषों के चिह्न स्वयं इसका प्रमाण है कि हिमालय और उसके प्रान्त में भी जल-प्लावन अथवा ओघ अवश्य हुआ होगा।[3] उसीकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए डॉ० वाडिया लिखते है :

'परमियन-काल से ही हिमालय और तिब्बत के समीप समुद्र की गन्दगी जमा हो रही थी। वह समुद्र-तल के ऊपर उठने से ऊँची हो गई। क्रमशः सागर विलीन हो गया और उसके स्थान पर संसार का महान् हिमालय पर्वत दृष्टिगोचर होने लगा।'[4]

इस भूगर्भ-क्रिया का समय जाइनर चार करोड़ वर्ष पूर्व मानता है।[5] उस समय मानव का अस्तित्व भी नहीं था। इस तिथि के अनुसार जल-प्लावन का वर्णन कालान्तर में किया गया। उसके पूर्व केवल जातक-कथाओं के रूप में उसका प्रचलन रहा होगा। मानव-शास्त्र के विशेषज्ञ भी मानव की उत्पत्ति जल-प्लावन के काफी बाद मानते हैं। निस्सन्देह यह वर्णन कालान्तर का ही है, क्योंकि प्रलय-युग में मनुष्य इतना सभ्य नहीं था कि वह नौका आदि का निर्माण कर सकता। विज्ञान और इस कथा में कवि-साम्य स्थापित करना सम्भव नहीं।

इतिहास, गाथा और विज्ञान में एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास समय-समय पर किया गया है। भारतीय दर्शन की पौराणिक गाथाओं के अनेक चित्र आलंकारिक विधि से चित्रित किये गए हैं। जल में ही आदि-सृष्टि की कथा के विषय में 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में श्लोक इस प्रकार है :

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्ति सत्यं ब्रह्म
ब्रह्म प्रजापति प्रजापतिर्देवान् ते देवा. सत्यमेवोपासते।[6]

प्रारम्भ में केवल जल-ही-जल था। जल से सत्य, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवता की उत्पत्ति हुई। वे देवता सत्य की उपासना करते हैं। इसी प्रकार थेल्स भी जल से ही समस्त सृजन मानते है। इसके लिए वे किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं स्वीकार करते। विश्व-उत्पत्ति के इस सिद्धान्त से भारतीय जल-प्लावन का ऐतिहासिक एव पौराणिक स्वरूप किंचित्

१. Radioactivity and Surface History of Earth—by J. Jolly.
२. 'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह'—प्रसाद का लेख-'आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' पृष्ठ १६०
३. 'पायनियर'—१६ अक्तूबर १९२८
४. Geology of India'—D N Wadia (1949) page 224
५. 'Dating the past—Zeuner'
६. 'बृहदारण्यक उपनिषद' ५-५-१।

साम्य रखता है। विश्वकर्मन् की कथा भी इसके निकट है। उन्होंने वृत्ति का विनाश करके एक नवीन जाति को जन्म दिया था। विश्वकर्मन् ज्वालामुखी के देवता-रूप मे प्रतिष्ठित हैं। इसीके पश्चात् उन्होंने कश्यप को धरणी दान दी थी।[1] तिलक जी भी जल-प्लावन का प्रमुख कारण भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार ही मानते हैं। उनकी धारणा है कि कथा की प्रेरणा सम्भवतः सभीने एक ही स्थान से ग्रहण की।[2]

जल-प्लावन-कथा को धार्मिक ग्रन्थों के साथ ही काव्य मे भी स्थान प्राप्त हुआ। प्राचीन काल मे जीवन, धर्म और साहित्य मे अधिक अन्तर नहीं था। भारत का समस्त वैदिक साहित्य, पौराणिक गाथा, उपनिषद् आदि जीवन की समस्या को सुलझाने के एक भावात्मक प्रयास हैं। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त जल-प्लावन की कथा अन्यान्य प्राचीन साहित्यो मे भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से वर्णित है। होमर ने एक स्थान पर कहा है : **'सूर्य सागर के प्रवाह की ओर भागा जा रहा है। सागर, निर्झर, बावली सभी महासागर से निकले हैं, जो पृथ्वी को घेरे हुए है। हेलोइस अथवा सूर्य स्वर्ण-नौका मे पश्चिम से पूर्व की ओर भागा जा रहा है।'** इसका तात्पर्य डाक्टर वारेन ने यही निकाला कि संसार जल से भरा हुआ है।[3]

भारतीय साहित्य मे जल-प्लावन की कथा 'शतपथ ब्राह्मण', 'पुराण', 'महाभारत' आदि अनेक स्थलो पर बिखरी हुई मिलती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार—'प्रातःकाल मनु के पास जल लाया गया। उसीमे एक मत्स्य भी था। वह बोला—"मनु, मेरी रक्षा करो। मै तुम्हारी सहायता करूँगा। जल-प्लावन मे सभी-कुछ नष्ट हो जायगा, तब मै तुम्हारी रक्षा करूँगा। मनु ने उससे उसकी रक्षा का उपाय पूछा। मत्स्य बोला—"जब तक हम शिशु रहते हैं, बड़े मत्स्य हमे खा जाते है। तुम क्रमशः पात्र, गढ़ा, नदी आदि मे रखकर अन्त मे मुझे सागर मे फेंक देना।" यथासमय जल-प्लावन आया। मनु ने नौका को मत्स्य के सींग से बाँध दिया। तदनन्तर उसे एक वृक्ष से अटका दिया। जल-प्लावन शान्त हो जाने पर वे 'मनोरवसर्पण' स्थान मे उतरे।[4] इस कथा की सत्यता पर विचार करते हुए तिलक ने स्पष्टीकरण किया है।[5]

'महाभारत' के वन पर्व मे 'मत्स्योपाख्यान' की कथा मिलती है। विवस्वान् के पुत्र मनु ने विशाल पर्वत पर दस हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की। एक दिन चारिणी के तट पर एक मत्स्य ने आकर जीवन-रक्षा की प्रार्थना की। मनु ने उसे जल-पात्र, झील, महासरोवर आदि मे रखकर अन्त मे सागर मे फेंक दिया। मत्स्य उसी समय बोला—'मनु! एक भीषण, प्रचंड प्रलय आने वाला है। इसमे चराचर सभी-कुछ नष्ट हो जायगा। तुम एक नौका मे सप्तर्षियो के साथ रहकर मेरी प्रतीक्षा करना।' जल-प्लावन के समय धरणी पर जल-ही-जल हो गया। मत्स्य मनु की नौका को हिमालय पर्वत मे 'नौबन्धन' तक ले गया।[6] 'महाभारत' के आगामी

---

१. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy—R. D Ranade (1926) page 77.
२. 'Arctic Home in Vedas'—B G Tilak (1925)—Glacial period.
३. 'Paradise Found'—Dr. Warren (1893) Part V, Chapter V. page 250
४. 'शतपथ ब्राह्मण' (काण्वीय) भाग २, पृष्ठ १५०-१५१।
५. 'Arctic Home in Vedas'—B. G Tilak (1925) Page 387.
६. 'महाभारत' वनपर्व; मत्स्योपाख्यान।

खंड में भी इसका सविस्तर वर्णन है।

'मत्स्य पुराण' का प्रारम्भ ही आदि-सृष्टि से होता है। 'मनु की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें वरदान दिया कि वे प्रलय-काल में सम्पूर्ण जगत् की रक्षा कर सकेंगे।...... एक दिन जब मनु पितरों को अर्घ्य दे रहे थे, कमण्डलु के जल से एक शफरी गिर पड़ी। राजा ने उसे अनेक स्थलों पर रखा पर उसका आकार बढ़ता ही चला गया।' शेष कथा 'शतपथ' की ही भाँति है। यहाँ मत्स्य प्रलय का कारण बताता हुआ संवर्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, वलाहक, विद्युत्पताका, शोण आदि सात प्रलयकालीन मेघों का वर्णन करता है।[1]

इसके अतिरिक्त 'आग्नेय पुराण' (प्रथम अध्याय), 'पद्म पुराण' (३६वाँ अध्याय), 'विष्णु पुराण' (५-१०; ६ ३), 'भागवत पुराण' (८-२४; १२-८,६), 'स्कन्द पुराण' (वैष्णव-खण्ड—पुरुषोत्तम-माहात्म्य खण्ड दो), 'भविष्य पुराण' (प्रतिसर्ग पर्व-अध्याय ४), 'कालिका पुराण' (अध्याय २५,३४), 'वायु पुराण' (अध्याय ६, सृष्टि-प्रकरण) आदि में जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप में मिलती है। इनका संग्रह डॉ० सूर्यकान्त ने किया है। प्रायः इन सभी में 'शतपथ ब्राह्मण' की कथा की छाया है। पौराणिक गाथा होने के कारण उनमें किसी प्रकार के वैज्ञानिक सत्य का निरूपण सम्भव नहीं। कल्पना के आधार पर धार्मिक अभ्युत्थान का प्रतिपादन ही इनका लक्ष्य है।

वेदों में प्रत्यक्ष रूप से जल-प्लावन का वर्णन नहीं मिलता। किन्तु 'अपान्नपात्', 'अर्णव', 'शरदः शतम्', 'शतम् हियाः', 'ओघ' आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है।[2] यहाँ तक कि मण्डल दो का ३५वाँ सूक्त जल के देवता अपान्नपात् को ही समर्पित है। अथर्ववेद (१६-३६-७, ८) में 'नावप्रमशनम्' का प्रयोग हुआ है। 'रामायण' (काण्ड ४, अध्याय ४३, पद ३२) में भी इसी कथा का आभास प्राप्त होता है। इस प्रकार जल-प्लावन की घटना परोक्ष रूप से कई स्थलों पर चित्रित है। इसके अतिरिक्त 'ऋग्वेद' में 'अंधकारमय रजनी' का भी वर्णन है। उसका विस्तृत विवेचन तिलक जी की पुस्तक में मिलता है।[3] भारत की अनेक आदिम जातियों में भी इस कथा का प्रचलन है। वेदों में जल-प्लावन-कथा के प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने से कई विदेशी विद्वान् इस कथा को सेमेटिक भावना से अनुप्राणित और प्रभावित कहते हैं। किन्तु भारतीय विद्वानों ने ही नहीं, मैकडानल ने भी इसे असत्य प्रमाणित किया है।[4]

ग्रीक-जल-प्लावन-कथा के दो रूप हैं। Dgygian deluge में Attica जलमय हो गया था। Deukalion flood का वर्णन एक सौ चालीस ईसवी वर्ष पूर्व Appollodorms ने अपनी पुस्तक Bibliotheca I VII—२ में किया है। उसके अनुसार Zeus ने अपने पिता की इच्छा-पूर्ति के लिए ताम्र-युग के व्यक्ति Deukalion का विनाश करना चाहा। अपनी रक्षा के हेतु deukalion ने एक बक्स का निर्माण किया। उसीमें वह अपनी पत्नी Pyrrha को लेकर

---

१. 'मत्स्यपुराण'—प्रथम व द्वितीय अध्याय।

२. Original Sanskrit Texts— 3rd Edition—Muir I Vol—Page 181-220
II Vol—Page 322-329
ऋग्वेद—१-६४-१४, २-२७-१०, २-२२-२, २-३५,५-५४-१५, ६-४८-८, ७-३६-१६।

३. Arctic Home in Vedas—Tilak

४. Vedic Mythology—Macdonell, page 139

बैठ गया। Zeus ने भीषण जल-वृष्टि से समस्त पृथ्वी को डुबो दिया। सभी-कुछ नष्ट हो गया। वे दोनो अपने कवच में ही नौ दिन के पश्चात् Parnassus नामक स्थान पर पहुँचे। उस समय जल-प्लावन कुछ कम हो रहा था। वहाँ उन्होंने देवताओं के लिए अपने अंगरक्षक की बलि दी। प्रसन्न होकर Zeus ने उनकी इच्छा जानने का प्रयास किया। Deukalion बोला कि मुझे सन्तान की कामना है। इस पर पत्थर फेंके गए। जो Deukalion ने फेंके वे पुरुष और जो Pyrrha ने फेंके वे स्त्री हुए।[१]

'बाइबिल' में नूह जल का देवता है। अनायास ही एक दिन उसे सूचना मिलती है कि जीवन का विनाश करने के लिए पृथ्वी पर जल-प्लावन होगा। प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जायगी। (जेनेसिस, ६-१७) इसीके बाद पृथ्वी पर अपार जलराशि छा गई। समस्त पर्वत आदि उसी मे विलीन हो गए। (जेनेसिस, ७-१६) सभी चराचर समाप्त हो गए। केवल नूह और उसके साथी नौका मे बच रहे। (जेनेसिस, ७-२३) वह नौका अराकन पर्वत पर टिक जाती है। धीरे-धीरे दसवे मास के प्रथम दिवस मे जल कम हो गया। पर्वत-श्रेणियाँ दिखाई देने लगी। (जेनेसिस, ८-५) नूह ही जल-प्लावन-कथा का नायक है। उससे ही मानवता का विकास हुआ।[२] इसी कथा से अन्य कथाओं का भी सम्बन्ध है।[३]

बेबीलोनिया के साहित्य मे जल-प्लावन की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उन सबका संग्रह परसी हैण्डकाक ने 'बेबीलोनिया की जल-प्लावन-कथाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत लगभग १६२१ मे किया था। प्रमुख कथा के अनुसार 'Berossus बेबीलोनिया मे तीन सौ ईसवी पूर्व बेल का पुरोहित था। उसने प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर जल-प्लावन का वर्णन किया है।' उसने लिखा है कि 'Ardates की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र Xisuthros ने लगभग अठारह सर (१८×३६०० वर्ष) तक राज्य किया। उसी समय एक भीषण बाढ़ आई। राजा को स्वप्न में ही इसका आभास मिल गया था। समस्त भू-भाग के जलमय हो जाने पर भी वह अपनी नौका मे ही बना रहा। जल का वेग कम होने पर उसने तीन बार पंछी उडाए। अन्तिम बार पंछी लौटकर नही आया, तभी Xisuthros ने समझ लिया कि अब जल-प्लावन कम हो चुका है और वह बाहर निकला। उसने तत्काल देवताओं को बलि दी तथा बेबीलोनिया का नव-निर्माण किया।'

इसके अतिरिक्त 'गिलगमेश' महाकाव्य मे भी जल-प्लावन का सजीव चित्रण हुआ है। गिलगमेश ने उपनपीश्तम से बातें की। उसने रहस्यमय घटना का उल्लेख करते हुए बताया कि शूरिपाक (Shurippak) नामक नगर यूफ्रेटस (Euphrates) के किनारे स्थित है। वहीं भीषण जल-प्लावन हुआ। Muir kukki ने जल-वृष्टि की। Adad ने विद्युत् को दौड़ा दिया। सातवें दिन वातावरण कुछ शान्त हुआ। तभी मानवता का विकास हुआ।[४] बेबीलोनिया और 'बाइबिल' की कथाओं मे अनेक साम्य मिलते हैं।

---

१. Bibliotheca—Applodorms—I—VII—2

२. Bible of the World—Robert O Bellon (1946) page 649.

३. The Riks—T. Paramsiva Iyer (1911) page 152.

४. Epic of Gilgamesh—Canto XI.

पहलवी ग्रथो के अनुसार सृष्टि-सृजन के पूर्व एक पारस्परिक विवाह हो गया। आकाश, जल, वायु आदि से दानवो का संघर्ष हुआ।[1] फारसी के धार्मिक ग्रंथो मे देवताओ ने विचार-विमर्श के अनन्तर यह निर्णय किया कि अपार शीत के साथ हिम-पात से एक भीषण बाढ लाई जाय। यीमा को संकेत कर दिया गया कि वह अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध कर ले। उसने यही किया।[2] सुमेरियन ग्रन्थो मे Zi-u-Suddu ने स्वप्न मे ही जल-प्लावन का संकेत पा लिया था। वही जल-प्लावन सात दिन तक रहा। परिनिपीश्तम् जल के बीच रहने वाले देवता थे। चीन मे भी Shih राजा के समय मे zu की बुद्धिमत्ता का वर्णन है।[3]

इस प्रकार जल-प्लावन की कथा प्राचीन जातियो के पुरातन ग्रन्थो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। इनमे से सभी की वास्तविकता अथवा वैज्ञानिक आधार की पुष्टि सम्भव नही। धार्मिक आधार होने के कारण ये कथाएँ प्राय: इतिहास की दृष्टि से नही लिखी गई। इनका लक्ष्य मानव का आध्यात्मिक विकास है।[4]

'कामायनी' की भूमिका से स्पष्ट है कि प्रसाद ने कथावस्तु का ग्रहण भारतीय ग्रन्थो से लिया है। कल्पना का अधिकाधिक आश्रय उन्होने लिया, क्योकि वे 'कामायनी' को एक गाथा अथवा धार्मिक ग्रन्थ नही बना देना चाहते थे। मानवता का मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक चित्र प्रस्तुत करना ही उनका प्रतिपाद्य विषय था। 'डिवाइन कामेडी' के पौराणिक दोष 'कामायनी' मे नही है। ऐतिहासिक आधार होते हुए भी कवि ने कल्पना के द्वारा नवीनतम विषयो को ग्रहण किया है।

'कामायनी' का आरम्भ ही जलमय पृथ्वी के वर्णन से होता है। इसके पूर्व की घटना छोड दी गई है। इसी अवसर पर 'एक पुरुष' के अस्तित्व का परिचय दिया गया है। हिमगिरि उत्तुङ्ग शिखर का वर्णन तो सभी मे मिलता है। जिस 'एक तत्त्व की प्रधानता' का उल्लेख कवि ने किया है, वह जल और हिम के समीप है। जल और हिम दोनो मे एक ही तत्त्व प्रमुख था। जड अथवा चेतन! जिस तपस्या का वर्णन 'मत्स्य पुराण' आदि मे है, उसीका एक आभास 'तरुण तपस्वी' की साधना मे मिल जाता है।[5] कवि ने इसी स्थल पर प्रथम पुरुष के पौरुष-मय स्वरूप का अत्यन्त सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। पौराणिक गाथाओ ने जिस दिव्य शक्ति और तेज से मनु को विभूषित किया है, उसे यहॉ स्थान नहीं दिया गया। 'कामायनी' का मनु पूर्ण मानव के रूप मे सम्मुख आता है। मानव की सार्थकता इसी स्वतन्त्र चित्रण के कारण है। मनु जीवन की स्वाभाविक दुर्बलताओ से युद्ध करता हुआ ही परम लक्ष्य तक जाता है।

---

१. 'The sacred conflict was waged with water... .'

—The Bible of the World (1938) Page 628

२. Song Vendad—given by Ushar, translated by Geldner, Page 208.

३. Sacred book of China—Texts of Confucianism—Part 1st.

४. 'But the story of such a flood can neither be verified nor disproved historically. And consequently its value must lie in the moral and spiritual lessons it is designed to teach.'

—A New Standard Bible Dictionary (1926) Page 269.

५. 'कामायनी'—'चिन्ता' सर्ग का आरंभिक अंश।

यद्यपि आज भी उसे देवत्व के मधुर स्वप्न याद आते हैं, किन्तु उसे बोध हो गया है कि वह अपूर्ण था। वह कहता है :

'भोले थे, हाँ तिरते केवल,
सब विलासिता के नद में,'

जलप्लावन के उतरने के साथ ही पृथ्वी बाहर निकलने लगी। 'एक पुरुष' की नौका महावट से बंधी है। आगे चलकर वह उत्तरगिरि के सिर से टकराती है। 'शतपथ ब्राह्मण' मे भी मनु की नौका 'उत्तरगिरेर्मनोरवसर्पण' मे एक वृक्ष से बाँध दी गई थी।[1] यह उत्तरगिरि स्थान हिमालय मे ही है। आगे चलकर 'इडा' सर्ग में वृत्रघ्नी (सरस्वती) का भी वर्णन आया है। इस जल-प्लावन-स्थान और मनु के नौकावरोहण के विषय मे प्रसाद जी का विचार है कि—'मेरु और उसके पास ही उत्तरकुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रथो मे मेरु के साथ ही उत्तरकुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनो ही एक-दूसरे के निकट हैं। उत्तरकुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानो मे पूर्वजो का पवित्र देश कहा गया है। 'भीष्म पर्व' मे भी इसका विस्तृत वर्णन है। वहाँ के व्यक्ति शुक्ल वर्ण (गौर) अभिजातसम्पन्न, नीरोग और दीर्घजीवी होते थे।'[2] 'बृहत्संहिता' मे भी कहा है :—

'उत्तरतः कैलासो हिमवान वसुमान गिरिर्धनुष्माँश्च
क्रौंचो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च ॥ १४-२४ ॥

इस विषय मे अविनाशचन्द्र दास जी का भी मत है कि—'सप्तसिन्धु उत्तर-पश्चिम की ओर गान्धार प्रान्त के द्वारा पश्चिमी एशिया अथवा एशिया माइनर से मिला हुआ था।'[3] इतिहास स्वयं इस सत्य का प्रमाण है कि प्राचीन आर्यावर्त की सीमा बडी दूर तक थी।

जल-प्लावन के समय चराचर का कोई भी चिह्न शेष नही रह गया था। इसे 'कामायनी' मे 'वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी, पहचानी-सी' कहकर स्पष्ट किया गया है। इसी विकराल स्थिति के वर्णन के पश्चात् मनु के हृदय का झंझावात दिखाया गया है। यह मनोवैज्ञानिक है। साथ ही भारतीय दर्शन मे मनु से मन का भी अर्थ लिया जाता है। इस स्थिति द्वारा ही प्रसाद जी देव-दानव की अपूर्णता बताकर मानव को सर्वोपरि बताते है। मनु की चिन्ता के मूल मे 'एकोऽहम् बहु स्याम' का बीज निहित है। 'शतपथ' के इडा अंश को यहाँ छोड दिया गया है। किन्तु वही इडा अन्त मे जाकर मनु से मिलती है।

मानसिक झंझावात के समाप्त होते ही 'एक पुरुष' प्रलय अथवा जल-प्लावन का दृश्य प्रथम बार अपनी आँखो से देखता है :

दिग्दाहो से धूम उठे या, जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन मे भीम प्रकम्पन, झंझा के चलते झटके।

---

१. अमीवरम् वैस्वावृत्तेनावं प्रति वंदनीय
'—शतपथ ब्राह्मण' (माध्वीय) ८-०

२. प्रसाद जी का लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'
—कोशोत्सव स्मारक संग्रह (सं० १९८५) पृष्ठ १६२

३ Avinash Chandra Das—Rigvedic India—Page 560

धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निःश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास॥

'कामायनी' के इस जल-प्लावन-दृश्य का समर्थन तद्विषयक प्रायः सभी भारतीय ग्रन्थों मे
भी प्रकृति की यही स्थिति थी—'अन्धकार के स्वामी ने
सन-सन पवन, जल, झंझावात आदि पृथ्वी पर छा गए
यही है। 'मत्स्य पुराण' मे कहा गया है, 'सारी पृथ्वी जल
ी।' वाडव ज्वाला, जलधि और झंझा का प्रयोग प्रसाद
का जल-प्लावन चित्र ऐतिहासिक तथा पौराणिक दृष्टि से
नवीय भावनाओ का भी निर्देश किया है। 'एक पुरुष'
कॉप रही थी, मानो आलिंगन के हेतु नील व्योम उतरा
र्यादाहीन' हो गया था।
ौराणिक ग्रन्थो मे मिलता है, वह अमानवीय थी। उसे
र प्रलय का कोई प्रभाव न पड़ सकता था। 'कामायनी'
नही लगते। वह तरल तरगो से उठ-गिरकर 'पगली'

नी' मे महामत्स्य का एक चपेटा उत्तर-गिरि के सिरे से
शब्द कवि की स्वतन्त्र कल्पना है। अन्यथा प्राचीन
. हिमवान प्रदेश पर पहुँचती है।[3] इसी के पश्चात्
ा पर विचार करने लगता है। आरम्भ का आन्तरिक
ह एक स्वाभाविक क्रम है कि किसी घटना अथवा दृश्य
हो उठती है। उसीके पश्चात् उसी स्थिति का वर्णन

ों को, निर्जनता की उखडी सांस।
ध्वनि, बनी हिमशिलाओं के पास॥

ोग हुआ है। तिमिंगिल बडा मत्स्य है, जो छोटो को
रक्षा करने की प्रार्थना की थी।[4]
-प्लावन का वर्णन हुआ है। एक पुरुष, हिमगिरि, नौका,
ाह्मण', 'पुराण' आदि भारतीय ग्रन्थों के समीप है।
ा' मे सृष्टि के नव-विकास का उदय होता है :

d The ruler of darkness at eventide sent a
ew, the Flood, the tempest overwhelmed the
lena—Epic of Gilgamesh, nto XI

२. 'कामायनी' की भूमिका—"इन्हीं सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा सृष्टि हुई है।"
३. ... तस्य नावः पाशं श्रृङ्गे प्रतिमुमोच तेन हैतमुत्तरं गिरिमभिदुद्राव
शतपथ ब्राह्मण ८-१-३।
४. मत्स्य, महाभारत वन पर्व—मत्स्योपाख्यान आदि।

उषा सुनहले तीर बरसती, जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।

यही पुनरुत्थान सभी जल-प्लावन-कथाओं में मिलता है। प्रलय शान्त हो जाती है और नवीन मानवता जन्म लेती है। यहीं पर मनु को जीवन के प्रति मोह उत्पन्न होता है। वे नभ के गानों में शाश्वत रहना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के मनु को भी इडा प्रलय के पश्चात् ही मिल जाती है। क्या उन्हींसे मानवता का जन्म होता है।[1] 'बाइबिल' में भी नूह को भावी सृष्टि के विकास का वरदान मिला था। इस विषय में सभी कथाएँ एकमत हैं कि शेष व्यक्ति ही से मानवता का विकास होता है। प्रसाद ने 'आशा' में ही भावी मानवता के प्रति एक सूक्ष्म संकेत कर दिया है। यहीं पर प्रथम बार वे 'एक पुरुष' को मनु की संज्ञा देते हुए कहते हैं :

. 'देखा मनु ने वह अति रंजित, विजन विश्व का नव एकान्त'

'प्रहर दिवस कितने बीते' से प्रलय-काल का निर्णय प्रसादजी ने कर दिया है।

'कामायनी' के आरम्भिक मनु केवल इसी कारण यज्ञ करते हैं कि 'क्या आश्चर्य है, और कोई जीवन-लीला रचे हुए हो।' वे अवशिष्ट अन्न कहीं कुछ दूर पर रख आते थे। उन्हें इससे सहज सुख मिलता था कि इससे कोई अपरिचित तृप्त होगा। यह कामना 'शतपथ ब्राह्मण' के इडा-उत्पत्ति-कारण से सम्बन्ध रखती है। अन्त में 'श्रद्धा' सर्ग में सृष्टि का यह विधान पूर्ण हो जाता है।

प्राचीन आलेखों के अनुसार प्रलय के दो स्वरूप हैं—प्रलय और महाप्रलय। शैव-दर्शन के अनुसार महाप्रलय की दशा में आणव, कर्म आदि नष्ट हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। यहाँ कर्म का प्रयोग अतिशय व्यापक अर्थ में किया गया है। नैयायिक और वेदान्तवादी इसे नहीं मानते।[2] प्रलय में आत्मा कर्मानुसार एक निद्रा (सुषुप्ति) में निमग्न हो जाती है। सांख्य के अनुसार सत्व, रजस्, तमस् गुण समान स्थिति में आ जाते हैं। किन्तु वैशेषिकों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु परमाणु में परिवर्तित हो जाती है।[3] प्रलय की दशा में जो कर्म सो जाता है, वही जाग्रति में सृष्टि का सृजन करता है। किन्तु महाप्रलय के पश्चात् निर्माण सम्भव नहीं। इस दृष्टि से 'कामायनी' की जल-प्रलय साधारण प्रलय है। तभी कर्म से नवीन मानवता का विकास हो सका।

'कामायनी' के प्लावन-वर्णन में आये हुए मनु प्राचीन आलेखों में वर्णित मनु के प्रतिरूप हैं, यह प्रश्न भी विचारणीय है। प्रलय के पश्चात् बच रहने वाले और नये सिरे से सृष्टि का विकास करने वाले मनु के भारतीय जनश्रुति में कई रूप मिलते हैं। वेद मनु को कर्मकाण्डी ऋषि के रूप में स्वीकार करते हैं। वे यज्ञ करते हैं तथा प्रथम अग्निहोत्र को प्रज्वलित करते हैं।[4] वे 'विश्वदेव' हैं। ऋग्वेद में कहा गया है :

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनु समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥ १०-६३-७

---

१. तद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान्—शतपथ ८-१-७
२. 'वेदान्त सूत्र'—शांकर-भाष्य—४०७
३. K C Pande—Abhinavagupta, 1935, Page 231
४. ऋग्वेद—१-४४-११; ३-३४-३; १०-६३-१५.

ये 'श्राद्धदेव' मनु मानवता के जन्मदाता भी है। पुराणों मे वैवस्वत मनु का आख्यान मिलता है। 'शिव', 'हरिवंश', 'श्रीमद्भागवत', 'देवी भागवत' आदि मे इनकी चर्चा है। 'मनुस्मृति' के मनु ऋषि, जन्मदाता और नियामक भी है। 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग ताण्ड्य, ब्राह्मण आदि मे भी मिलता है। 'महाभारत' के मनु भी प्रजा का पथ-प्रदर्शन करते है। मनु का वर्णन प्रायः सभी भारतीय धार्मिक ग्रन्थो मे किसी न-किसी रूप मे मिलता है। उनके समन्वय से हम जन्मदाता, पालनकर्ता, रक्षक और आदि पुरुष का रूप सहज ही पा सकते है। प्रलयकालीन मनु का इन सभी से साम्य स्थापित हो जाता है, क्योकि वे ही सृष्टि का नव-सृजन करते है।[1]

'कामायनी' मे मनु के चरित्र के कई रूप मिलते है। प्रलयकालीन मनु का स्वरूप 'शतपथ ब्राह्मण' आदि ग्रन्थो मे प्राप्त हो जाता है। इसीके अनन्तर वे कर्म की ओर अग्रसर होते है। मनु का यह रूप वैदिक कर्मकाण्डी मनु के अधिक समीप है। वे आदि-पुरुष है और ज्वलित अग्नि के पास बैठकर मनन किया करते थे। उनकी साधना तपस्वी की भाँति है।

इसीके पश्चात् मनु और श्रद्धा का मिलन होता है। श्रद्धा मनु को भावी मानवता के लिए कर्म मे नियोजित करती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के 'श्रद्धादेवो वै मनुः' सातवे मन्वन्तर ही है, इसकी कोई पुष्टि नही। 'भागवत पुराण' मे वर्णन आता है :

ततो मनु' श्राद्धदेवः संज्ञयापयामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् सआत्मवान ॥

यद्यपि एक-दो स्थलो पर अपवाद भी हैं, तथापि मनु प्रायः श्रद्धा के पति रूप मे ही प्रतिष्ठित हैं। इडा के साथ उनके सम्बन्ध की पुष्टि करने के लिए 'कामायनी' के मनु को 'शतपथ' के निकट ही रखना होगा। श्रद्धा और इडा वहाँ लगभग बहनें ही हैं।[2]

'कर्म' सर्ग मे मनु की हिंसात्मक प्रवृत्ति जाग उठती है। किलात-आकुलि के साथ वे पशु-बलि करते है। अन्य पौराणिक गाथाओ मे मनु को इतना नीचे नहीं गिराया गया जितना 'कामायनी' मे। 'शतपथ ब्राह्मण' मे अवश्य वे इडा के साथ व्यभिचार करना चाहते हैं। 'कामायनी' के मनु सोम का प्रयोग करते है। उनके कर्म का क्षेत्र ही परिवर्तित हो जाता है। 'ईर्ष्या' सर्ग मे मनु मृगया मे व्यस्त पुत्र से ही ईर्ष्या करने लगते है। अन्त मे श्रद्धा को छोडकर चल देते है। यह कवि की कल्पना है। उसने मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओ को अंकित करने के लिए ही ऐसा किया है। प्राचीन ग्रन्थो की भाँति ही 'कामायनी' के मनु से सृष्टि का विकास होता है।[3]

मनु 'इडा' सर्ग मे पश्चात्ताप करते हैं। उनका आन्तरिक झंझावात प्रबल हो उठता है। यहाँ काम के शाप मे कवि ने आधुनिक दुर्दशा का चित्रण किया है। इडा का मिलन मनु को प्रजापति बना देता है। मनु का यह स्वरूप मनुस्मृति की भाँति है। 'शतपथ' और 'ऋग्वेद' दोनो की इडा इस काल पर आकर उपस्थित हुई है। 'ऋग्वेद' के अनुसार इडा मनुष्यो पर शासन करती है।[4] यहाँ भी मनु उसके बुद्धिवाद के सम्मुख समर्पण करते हैं। 'स्वप्न' सर्ग मे मनु

१ P Thomas—Epics, Myths and Legends of India—Ist chapter

२ शतपथ ब्राह्मण ११ २७ २०

३ The human race was renewed through Manu M Winternitz A History of Indian Literature (1927) Vol I, Page 210

४ ऋग्वेद—१-३१ ११

नियमों का उल्लंघन करके इडा का आलिंगन करना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में तो इस अपराध के लिए देवताओं ने केवल शाप दिया था, किन्तु यहाँ समस्त प्रजा ही विद्रोह कर उठती है।

मनु का अन्तिम रूप श्रद्धा की सहायता से आनन्द का सृजन है। इस स्थल पर वे श्रद्धादेव, श्राद्धदेव तथा सफल प्रजापति के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। यही नहीं प्रसादजी ने उन्हें वेदों के ऋषि के रूप में चित्रित कर दिया है, जिनके दर्शन से मानवता का सारा श्रम दूर हो जाता है। 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' के मनु आत्मवादी, आनन्दवादी इन्द्र की भाँति हैं। इस प्रकार 'कामायनी' के मनु भारतीय ग्रन्थों से अनुप्राणित कवि की कल्पना के सफल मानव हैं। उनका सम्बन्ध जल-प्लावन से लेकर मानवता के विकास तक है।

'कामायनी' का जल-प्लावन भारतीय आधार पर होते हुए भी सार्वभौमिक हो गया है। पौराणिक पक्ष का परित्याग कर देने से वह वैज्ञानिक दृष्टि से भी सार्थक है। जल-प्लावन के इन मूल स्रोतों से कवि का परिचय अनुमित होता है। भारतीय कथानक को लेकर प्रसादजी ने 'कामायनी' में भावी मानवता का निरूपण किया है। यही कारण है कि 'चिन्ता' का विक्षुब्ध प्रलयकालीन मनु आनन्दवाद तक चला जाता है—और यही जीवन का चरम लक्ष्य है।[1]

---

१. इस लेख के 'क' भाग के लेखक श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव तथा 'ख' भाग के लेखक डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी हैं।

डॉक्टर रामरतन भटनागर

रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड

काव्य-सृजन और काव्यालोचन एक ही प्रक्रिया के दो छोर है और सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्णतया समझने के लिए इन दोनो के गम्भीरतम स्रोतो को समझ लेना अनिवार्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र मे रसानुभव अथवा रस-ध्वनि के सिद्धान्त के अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय श्रोता अथवा रसज्ञ को एक केन्द्र-बिन्दु पर लाने का प्रयत्न किया गया है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सहृदय अपनी वैयक्तिक सीमाओ से ऊपर उठकर रस का मानस – आस्वादन करता है। वह अपनी दैनन्दिन अनुभूतियो को पीछे छोड देता है और भावना तथा अनुभूति की एक असामान्य, उदात्त और तटस्थ स्थिति को ग्रहण कर लेता है। रस के अलौकिकत्व को हमे इस साधारणीकरण की प्रक्रिया मे ढूँढना होगा। रसानुभूति मन की आनन्दमयी प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया मे पाठक ऐसे भाव-लोक मे पहुँच जाता है कि वह स्वयं अपने को और अपनी भौतिक स्थिति को भूलकर एक अतीन्द्रिय स्वप्न मे विचरण करने लगता है। जिस अतीन्द्रिय आनन्द का उसे अनुभव होता है उसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया है। उसका अपना वैयक्तिक अस्तित्व तिरोभूत हो जाता है और वह चेतना के ऐसे स्तरो मे प्रवेश करता है जहाँ उसकी अपनी चेतना सार्वभौम चेतना का अंश बन जाती है। व्यंजना के द्वारा इस व्यापक रसानुभूति की कल्पना भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की सबसे ऊँची उडान है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि काव्य का पाठक या श्रोता सहृदय हो, उसमे ऐसे संस्कार हो जिनसे वह कला-कृति से पूर्ण रूप से संयोजित हो सके और उसकी अभिरुचि परिमार्जित हो।

परन्तु हमारे काव्य-शास्त्री 'रस' पर रुक जाते हैं। वह काव्य-सृजन की प्रकृति और उसके विभिन्न स्तरो की खोज नही करते। भारतीय साहित्य मे कवि-प्रतिभा और कवि-व्यापार की विवेचना अवश्य मिलती है; परन्तु रस, ध्वनि, अलंकार, नायिका-भेद, छन्द-शास्त्र और इन विभिन्न काव्यांगो के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही अधिक लिखा गया है। पश्चिम मे काव्य-सृजन की प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व को कृति से संयोजित करके काव्य-विवेचन के लिए एक नया मार्ग ही अन्वेषित हो गया है।

पण्डितो ने काव्य-सृजन का मूल स्रोत प्रतिभा को माना है। प्रतिभा का अर्थ है वह कल्पना-शक्ति, वह अन्तर्दृष्टि, जिससे कवि प्रत्येक नवीन वस्तु-स्थिति और संयोजना मे अपने वैयक्तिक और आकर्षक ढंग से किसी मूर्त वस्तु, परिस्थिति, घटना, विचार अथवा भावोद्रेक की स्थापना करता है। कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, विविध और अदमनीय चेतना ही काव्य के रूप मे मूर्तिमान होती है। उसकी स्वतन्त्र और सर्वोपरि सत्ता से कोई भी इन्कार नही कर सकता। वास्तव मे उसे शब्दो मे पूर्णतया बाँधना कठिन है, इसीसे पूर्वजो ने उसे लोकोत्तर [illegible] वरदान के रूप मे माना है। अपने यहाँ वाग्देवी की कल्पना की गई है और काव्य-

साहित्य को उसीका प्रसार बतलाया है। कवि-प्रतिभा के इस लोकोत्तर रूप के समर्थक कवि को माध्यम-मात्र मानते हैं।

परन्तु क्या कवि-प्रतिभा सचमुच लोकोत्तर है? क्या कहीं कवि के बाहर उसका अस्तित्व है? सृजन के क्षण इतने स्फूर्ति-प्राण, केन्द्रीभूत और आनन्दमय होते है, उस समय कवि नाम के प्राणी मे भौतिक (शारीरिक) और स्नायविक चेतना कुछ इतनी नवीन और वैयक्तिक होती है और उन सृजन के क्षणो का फल कवि की कृति ऐसी अद्‌भुत है कि उसे और कुछ न कहकर लोकोत्तर कह दिया जाता है। काव्य-सृजन साधारण पाठक के लिए विस्मय की ही वस्तु है, अतः रूपक-रूप में उसे लोकोत्तर कहे तो कुछ भी अनुचित नहीं है। साधारण मनुष्य की प्रतिक्षण की काम-काजी अनुभूति से यह इतनी भिन्न है कि उसे विचक्षण ही कहा जा सकता है। परन्तु मनोविज्ञान की नई खोजो से यह स्पष्ट है कि इस अनुभूति मे दैवी कुछ भी नहीं है।

काव्य-सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है; जिसमे भावना, कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्त्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय मे इस प्रकार गुम्फित हो जाते है कि उन्हे अलग-अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इस संश्लिष्ट प्रक्रिया मे अभिव्यंजना के तत्त्व भी मिले होते है। अभि-व्यंजना काव्य-सृजन का ही एक अंग है। काव्य-प्रेरणा के भावुक क्षणो मे कवि की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, उसकी निर्मात्री प्रतिभा उद्दीप्त हो उठती है, उसकी अन्तर्दृष्टि के विस्तार के साथ उसकी कल्पना-शक्ति दुःसाहसी बन जाती है और पृथ्वी से आकाश तक का सारा प्रकृति-वैभव उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। कवि की अन्तश्चेतना के अनेक अदृश्य स्रोत उन्मुक्त हो जाते है और उसकी पूर्व स्मृतियाँ और पूर्वानुभूतियाँ उसके मन को नई मूर्तियो, नये अप्रस्तुत विधानो, नये नाद-स्वरो, नये अर्थों, नई लयो और नये संकेतो से भर देती है। कवि के व्यक्तित्व के निर्माण मे जिन तत्त्वो ने भाग लिया है, वे सब—उसके घृणा-द्वेष, उसका सूक्ष्म चिन्तन और उसकी चुहलें—एक ऐसी कला-कृति को जन्म देते है, जो कवि को भी अपने व्यक्तित्व से भिन्न एकदम नई लगती है। संक्षेप मे, कवि के मन का सौन्दर्य उसके अपने अस्तित्व से स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण कर लेता है।

यह प्रक्रिया एक साथ सौन्दर्यनिष्ठ, सृजनात्मक और व्यवहारात्मक अर्थात् टेकनिकल है। इसका आरम्भ, मध्य और अन्त सुनिश्चित है। आरम्भ को हम प्रेरणा कह सकते है। इस अवस्था मे कवि—कलाकार किसी माध्यम के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है। दूसरी अवस्था मे वह अभिव्यंजना-कला की ओर विशेष जागरूक रहता है और अन्त मे वह निश्चित कला-कृति के निर्माण मे समर्थ हो जाता है। यह सारी सृजनात्मक प्रक्रिया एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है। परन्तु कला-कृति पूर्ण होने पर भी अपने बाहर प्रसारित होती है। कलाकार भी मनुष्य है, साधारण प्राणी है और वह भी अपनी परिस्थितियो से प्रभावित होता है। उसका माध्यम है शब्द, जिनके पीछे अर्थो, भावनात्मक सम्बन्धो, ऐतिहासिक प्रकरणो, सन्दर्भो और भंगिमाओ एवं दृष्टि-कोणो की एक विस्तृत भूमि है। फलस्वरूप जिन शब्दो का प्रयोग कवि अपनी अनुभूति की पूर्णतम व्यंजना के लिए करता है, वही दूसरे के लिए विशेष अर्थ देने मे भी समर्थ होते है। इस प्रकार सृजन के द्वारा कवि आत्माभिव्यंजना मे ही समर्थ नहीं होता, वह पर-बोधक भी बन जाता है। इसमे सन्देह नहीं कि कवि का पूरा व्यक्तित्व सृजन मे डूब जाता है, माध्यम का उपयोग और उसकी सम्भावनाएँ उसे अद्‌भुत आनन्द से भर देती है और जब वह इस प्रक्रिया मे

सफल होता है तो उसकी सारी अनुभूति ही कला-कृति का रूप ग्रहण कर लेती है। कुछ भी अवशिष्ट नहीं बचता। परन्तु फिर भी उस कला-कृति को एक ओर उसके मूल स्रोत, उसकी पृष्ठभूमि और उसकी सर्जन-प्रक्रिया से और दूसरी ओर उसके साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित किया जा सकता है। हम उसे परम्परा से आबद्ध कर सकते है, अथवा परम्परा की दी हुई उसकी चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। या तो हम उस रचना से आनन्द ग्रहण कर सकते हैं, या उसके गुण-दोषों को उन्मुक्त कर सकते है। इस तरह कला-कृति के एक ओर कवि है, दूसरी ओर जागरूक सहृदय पाठक या आलोचक।

कला-कृति का विश्लेषण करते हुए भी हमें पहले कवि की प्रतिभा, उसके रूप, उसकी स्फूर्ति के सम्बन्ध में विचार करना होता है। क्यों प्रतिभा विशेष अवसर पर विशेष प्रकार से क्रियाशील होती है, क्यों वह सदैव क्रियाशील नहीं रहती, क्यों विशेष कवियों और कलाकारों का व्यक्तित्व सदैव प्रवहमान रहता है, जड़ीभूत नहीं हो जाता—ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना आज कुछ कठिन है। हमारे देश में प्रतिभा को संस्कार अथवा वासना की उपज माना गया है और उसको पूर्व जन्मों से सम्बन्धित किया गया है। परन्तु क्या हम आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इस सृजनात्मक प्रतिभा की व्याख्या नहीं कर सकते? प्रत्येक प्राणी में सर्जनात्मक स्फूर्ति का निवास है। इसका एक रूप प्रजनन है। क्या रस इसी प्रकार की कोई सर्जनात्मक स्फूर्ति नहीं है? सामान्य मनुष्य को कला-कृति से जो रसानुभूति मिलती है, वह क्या इससे नितान्त भिन्न है?

आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के मन को दो भागों में बाँट दिया है—चेतन और अवचेतन। फ्रायड का कहना है कि चेतन मन अक्रियाशील है, अवचेतन मन विशेष क्रियाशील है। मनुष्य की चेतन क्रियाओं के भीतरी तल में अवचेतन की प्रेरणाओं, स्फूर्तियों और क्रियाओं का ही विस्फोट है। प्रतिभाशाली कवि और कलाकार भी सामान्य मनुष्य हैं यद्यपि उसे विशेष सर्जन-शक्ति प्राप्त है। उसके परिवेष्टन के तत्त्व अर्थात् उसकी आवश्यकताएँ, स्फूर्तियाँ, सीमाएँ, परिस्थितियाँ इत्यादि उसकी अभिरुचि के निर्माण में भाग लेते हैं। उसका अपना परिवार रहता है और इस परिवार की जातिगत अथवा वर्गगत एवं स्थानीय कुछ विशेषताएँ रहती हैं। उसकी प्रतिक्रिया, उसका ज्ञान, उसका विशेषत्व, उसका व्यवहार और जीवन-दर्शन सब निश्चित रहता है। इनमें से अधिकांश के पीछे उसका वैयक्तिक अथवा समाजगत इतिहास रहता है। यह परिवेष्टन ही उसके मन को गढ़ता है। फिर उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसका अध्ययन, उसके ज्ञात-अज्ञात निरोध उसके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। कवि-कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी कला-कृति को विशिष्टता प्रदान करता है।

परन्तु इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है, जो कलाकार अपने परिवेष्टन से ग्रहण करता है। उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों पर अथवा उसके उपचेतन और अवचेतन मन पर संस्कार, स्मृति, कार्य-कारण-सम्बन्ध, भाव-भंगिमा (दृष्टिकोण), व्यवहार और अनुभूति की अनेक छापें छिपी या उभरी रहती हैं। ये कवि की अन्तःप्रेरणा के अदृश्य स्रोत हैं। ये सामाजिक या सांस्कृतिक तत्त्व एक अव्यक्त सत्त्व के रूप में कलाकार के व्यक्तित्व में सदैव अन्तर्हित रहते हैं। कवि के अवचेतन का यह भाग साधारणतः सुषुप्ति की अवस्था में रहता है, परन्तु जब यह एक बार जाग्रत हो जाता है तो वह कवि को अदम्य स्फूर्ति से भर देता है और उसकी कल्पना में ऐसे तत्त्व समाहित हो जाते हैं, जिनका उसे आभास भी नहीं होता या जो सामान्यतः

उसके ज्ञान, व्यवहार और चिन्तन के विषय नही होते। सर्जन के क्षणो मे कवि—कलाकार इन्हीं अदृश्य स्रोतो मे डुबकी लगाता है। इससे वह अपने व्यक्तिगत बन्धनो से मुक्ति पा जाता है और निर्बन्ध, उन्मुक्त जीवन-चेतना उसकी अनुभूति को नया रूप देने मे समर्थ होती है। उसकी कल्पना निर्बाध गति से बहने लगती है। 'निर्भरेर स्वप्नभंग' नाम की कविता मे श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर ने जिस स्वच्छन्द, निर्द्वन्द्व जागृति का चित्रण किया है कुछ उसी प्रकार की जागरण-स्फूर्ति कवि को पकड लेती है। यही अद्भुत विस्फोट कवि की अशरीरी सर्जन-प्रतिभा को काव्य-शरीर देता है। इन क्षणो मे कवि का पुनर्जन्म होता है—उसकी चारित्रिक परिसीमा टूट जाती है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही क्रियमाण हो उठता है। इस अवस्था मे कल्पना, तथ्य, गीति, लक्षणा के तत्त्व एक परिपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र मे बँधकर नई कला-कृति के अविच्छिन्न अंग बन जाते हैं। सर्जन के अन्त मे संसार को जो नई भेट मिलती है, वह कवि का मानस-पुत्र होने पर भी उसके अपने व्यक्तित्व से बहुत-कुछ भिन्न होती है। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। जिस अवस्था मे यह सर्जन-प्रक्रिया गतिमान रहती है उसे परिपूर्ण समाधि की अवस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था मे ध्येता और ध्येय मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता। यदि समाधि शिथिल है तो रचना मे आत्मचेतन, शैथिल्य और असन्तुलन रहता है। निस्सन्देह सर्जन के क्षणो मे कवि भाव और अभिव्यंजना के क्षेत्र मे तटस्थ बन जाता है। उसकी इसी स्थिति को हम 'लोकोत्तर' कह सकते है।

यह सर्जन कला-कृति का एक छोर है। दूसरा छोर है उसके सौन्दर्य का उद्घाटन, उसका अनुभव, कला-कृति के अर्थो की व्याख्या और उसका मूल्य-निर्धारण। यह आलोचना का क्षेत्र है। श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए शिक्षा, अनुभूति, सहवेदन, कला-निष्ठा, जीवन और साहित्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान, नई प्रतिभा को पहचानने की शक्ति और नये मूल्य-निर्धारण का साहस अपेक्षित हैं। समीक्षक की स्थापनाएँ उसकी अभिरुचि की उच्चता और विशिष्टता पर निर्भर रहती है और उसके निर्माण मे वे कलागत मूल्य सहायक होते है जिन्हे वह मापदण्ड बनाकर चलता है। श्रेष्ठ समीक्षक जब किसी कला-कृति की विवेचना करता है तब वह कला-कृति सामाजिक तत्त्व बन जाती है। उसे उस कला-कृति तक अनेक प्रकार से पहुँचना होता है। कला-कृति के पीछे जो जीवन-सन्देश या तथ्य-स्थापना है, उसमे कलाकार का जो स्वप्न मूर्तिमान हुआ है, उसमे अभिव्यंजना के जिन नये साधनो का उसने प्रयोग किया है और इन विभिन्न उपकरणो मे वह जिस प्रकार सन्तुलन स्थापित करने मे समर्थ हुआ है—ये समीक्षक के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके अतिरिक्त वह विशेष कृति की अन्य समान कृतियो से तुलना करता है, उसे नये-पुराने मूल्यो पर परखता है, उसे वर्गनिष्ठ करता है अथवा युग और परम्परा से सम्बन्धित करता है। कला-कृति का रसास्वादन यदि महत्त्वपूर्ण वस्तु है तो उसका मूल्य-निर्धारण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि समीक्षक अपने क्षेत्र का पूर्ण अधिकारी हो, वह पक्षपात-रहित हो, कला-कृति मे वह अपने अर्थो की स्थापना न करे। ऐसे निष्पक्ष अधिकारी समीक्षक ही कला-कृति को नया सवेदन देने मे समर्थ हो सकते है।

कला के मानो और समीक्षक के मूल्य-निर्धारण मे सार्वभौमिकता हो, यह आवश्यक नही है। यह सम्भव भी नही है। प्रत्येक युग अपने साहित्यिक दाय के परखने के लिए नये मानो का निर्माण करता है। प्रत्येक नये युग का अपना दृष्टिकोण, अपना स्वप्न, अपना पहलू होता है। फलतः किसी एक श्रेष्ठ कला-कृति के चारो ओर समीक्षा के अनेक परत जम जाते हैं। यही

नही, सैद्धान्तिक समीक्षा भी सदैव अपरिवर्तनशील नही रहती। कला के जन्म, उसकी प्रकृति, उसके प्रकार, उसके माध्यम और उसकी अभिव्यजना-शक्ति आदि के सम्बन्ध मे भी विचार बदलते रहते है। परन्तु बदलते हुए मानो और विचारो से श्रेष्ठ कला-कृतियो को हानि नही पहुँचती। श्रेष्ठ कला-कृतियाँ जड नही होती। वह जीवन और चेतना से ओत-प्रोत रहती है। उनका अपना इतिहास बन जाता है। प्रत्येक युग मे उनका सौन्दर्य वृद्धिमान हो जाता है और प्रत्येक नया युग उनमे नया जीवन-सन्देश ढूँढ लेता है। काव्य-समीक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह कला-कृति के इस प्रवहमान सत्य को अपने युग की वाणी दे। कलाकार के मन की प्रारम्भिक अस्पष्ट रसानुभूति से लेकर परिपूर्ण कला-कृति तक का वृहद् क्षेत्र उसके लिए दर्पण की तरह उज्ज्वल होना चाहिए। उसे यह भी जानना चाहिए कि कला-कृति का सौन्दर्यात्मक, रचनात्मक, कलात्मक और समीक्षात्मक मूल्याकन वस्तुतः उसके अर्थ, सौन्दर्य और रूप का प्रसार-मात्र है।

वस्तुतः कला-कृति को कई कोणो से देखा जा सकता है। कलाकार के लिए वह उसके व्यक्तिगत जीवन का एक अश, उसका एक अविभाज्य अनुभव, उसके मानस का एक अखण्डित अंग है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी को उसमे मन की विभिन्न प्रक्रियाओ का सयोजन महत्त्वपूर्ण जान पडेगा। साहित्यिक, सहृदय या समीक्षक के लिए वह वाणी का एक विशिष्ट प्रयोग है और उसकी सफलता-असफलता को वह रस, अलंकार, छन्द, गुण, वृत्ति और ध्वनि की कसौटी पर आँकता है। समाज-विज्ञानी उसमे सामाजिक चेतना देखता है अथवा उसे समसामयिक जीवन से सम्बन्धित करता है। वह वर्ग-प्रेरणा को साहित्य-प्रेरणा से कही अधिक महत्त्व देता है। उसके लिए कलाकार और उसकी कला-कृति परिवेष्टन से बाहर की उपज नहीं है और इस परिवेष्टन मे कभी कभी मानव-जाति का सारा विकास सिमट आता है। समीक्षक की दृष्टि से वह ऐसा केन्द्र विन्दु है, जो उसे नये तथ्यो की ओर उन्मुख करता है अथवा पुराने तथ्यो और अभिरुचियो के लिए कंचन-कसौटी का काम करता है। इन सब दृष्टिकोणो से स्वतन्त्र भी कलाकृति का अस्तित्व है। उसमे एक अति भावुक, प्रबुद्ध, जागरूक आत्मा का संवेदन आलेखित है। वह स्वयं एक विशिष्ट इकाई है।

फलतः काव्यालोचन के लिए किसी विशेष दृष्टिकोण का आग्रह वाञ्छनीय नहीं है। उसमे काव्य-सृजन की प्राथमिक अनुभूति से लेकर कवि के व्यक्तित्व, रचना के साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष, उसके सामाजिक परिवेष्टन, उसकी ऐतिहासिक और मूल्यगत विशेषता और उसकी युग-निष्ठा तक सब-कुछ ग्राह्य है। एक तरह से वह कवि के मन का पुनर्निर्माण है। साहित्य-समीक्षा मे रचना के विविध शास्त्रीय उपकरणो को विश्लेषित और संश्लेषित किया जाता है, परन्तु यह वस्तुतः कृति के आलोचन का एक अंग-मात्र है। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा से बाहर जायँ और रचना मे साहित्यकार की मनःप्रवृत्ति, उसकी वर्ग-चेतना और युग-धर्म का प्रतिबिम्ब खोजे और उसे परम्परा और परिवेष्टन से पूर्णतया सम्बन्धित करते हुए भी उसमे कवि की स्वतन्त्र, उदात्त और मौलिक स्फूर्ति की स्थापना करे। परन्तु यह भी आवश्यक है कि हम नये-नये 'वादो' मे कृति के साहित्यिक सौन्दर्य को खो न दे और हमारे लिए कवि का भौतिक परिवेष्टन ही सब-कुछ न हो जाय। प्रत्येक क्षेत्र की तरह समीक्षा के क्षेत्र मे भी सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता है।

डॉक्टर एजाज़हुसेन

उर्दू-कविता में राष्ट्रीय भावना

उर्दू के जन्म के पूर्व और शताब्दियों बाद भी हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का वह दृष्टिकोण नहीं था जिसको आज दुनिया राष्ट्रीय जीवन समझती है। स्वयं यूरोप में राष्ट्रीयता की आधुनिक कल्पना १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मानी जाती है। इसकी नींव कुछ पहले पड चुकी थी, लेकिन राष्ट्रीयता की इस नई कल्पना को फ्रान्सीसी क्रान्ति से शक्तिशाली सहारा मिला। उसके स्वरूप के लिए किसी देश की जनता का, एक उद्देश्य के साथ एक केन्द्र पर एकत्र होकर शासन-प्रबन्ध के लिए सक्रिय कदम उठाना आवश्यक समझा गया। इसके अतिरिक्त और दूसरी शर्तें भी राष्ट्रीय कल्पना के लिए आवश्यक समझी गई, जिनसे सम्प्रति हमारा कोई प्रयोजन नहीं। कहना तो केवल यह है कि हिन्दुस्तान मे राष्ट्रीयता की वर्तमान कल्पना उस समय प्रस्तुत न थी, जब उर्दू-साहित्य की उत्पत्ति हुई। उस समय राष्ट्रीय भावना के लिए स्वदेश-प्रेम बडी महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। एक हिन्दुस्तानी के लिए हिन्दुस्तान से प्रेम रखना, यहाँ की ऋतुओ, दृश्यो, फल-फूलो आदि मे दिलचस्पी लेना, यहाँ के लोगो को प्यार करना, यहाँ की भाषाओ को अपनाना और इसी प्रकार की कुछ दूसरी मान्यताएँ थीं, जिन्हे हम उस समय की राष्ट्रीयता के तत्त्व मानकर उर्दू की जाँच-पड़ताल करना चाहते है।

उर्दू की उत्पत्ति और उसके विकास के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए यह अनुभव होता है कि जब बाहर से आने वाले मुसलमान यहाँ आये और आकर बस गए तो उनको लोगो से मिलने-जुलने और बातचीत करने की आवश्यकता पड़ी। यहाँ के लोगो को भी उनकी भाषा समझने की आवश्यकता पडी। कालान्तर मे बाहर से आने वालो की भाषा और शब्दो से मिलकर हिन्दुस्तान मे एक नई बोली का रूप बनने लगा, जिसकी नींव हिन्दुस्तान ही के बनाये हुए व्याकरण पर रखी गई। धीरे-धीरे एक मुद्दत के बाद भाषा तैयार हो गई। चूँकि भारत मे बाहर से आने वालो का प्राधान्य उत्तर की ओर था इसलिए इस बोली का प्रारम्भ उत्तर भारत से हुआ, परन्तु कुछ ऐसे संयोग उपस्थित हुए कि एक अरसे के बाद उत्तर के स्थान पर यह बोली दक्षिण मे फलने-फूलने लगी। दक्षिण मे इस बोली को फैलाने वाले ऐसे सूफी बुजुर्ग और उदार हृदय बादशाह थे जिनके विचार बड़े व्यापक थे। सूफी अपने सिद्धान्तो के कारण धर्म के पाश मे ऐसे नहीं बँधे थे जैसे गैर सूफी। वे सदा से स्वतन्त्र विचार वाले और मिलनसार थे। अपने विचारो को फैलाने के लिए उन्होंने दक्षिण की भाषाओ मे फारसी शब्द मिलाकर तेजी के साथ दक्षिणी भाषाओं मे अपने सिद्धान्तो का वर्णन प्रारम्भ किया। वे सिद्धान्त क्या थे इसका वर्णन करना बेकार है। अभीष्ट केवल यह बताना है कि उन्होंने और बातो के अतिरिक्त धर्म मे रूढियो से विद्रोह किया। दूसरे धर्मों की भी सराहना की। उनके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की। उनके यहाँ से भी विचारो का अवगाहन किया और उनकी विशेषताओ पर अपने यहाँ मान्यताएँ

स्थापित की। बादशाहों की भी यही दशा थी। वे सचमुच बादशाह थे, विशेषतः सुल्तान मुहम्मद अली कुतुबशाह शाहनशाह, जो अकबर का समकालीन था और उर्दू का पहला ग्रन्थकार कवि। इस वंश के बादशाह भारतीय थे। वे बाहर से नहीं आये थे। इसलिए भी उन लोगों को अपने देश से प्रेम, उसके प्राकृतिक दृश्यों से प्यार और उसमें बसने वालों के प्रति आकर्षण था। अत. कवि-बादशाह के काव्य-संग्रह में भारत के फलों—खजूर, नारियल, जामुन आदि—का उल्लेख बड़े जोर-शोर से किया गया है। ऋतुओं में वसंत और ग्रीष्म पर विशिष्ट कविताएँ मिलती हैं। भारत की विशेष स्त्रियों का भी मनोरंजक उल्लेख है। इसी भाँति उसके समकालीन और परवर्ती सूफी कवियों ने कट्टर धार्मिक मुसलमानों के विरुद्ध बहुत-कुछ आवाज उठाई। भारत के दूसरे धर्मों का भी सम्मान किया और उनको समझाने की कोशिश की कि वे अन्य धर्मों को भी समझें। तात्पर्य यह कि कविता और गद्य दोनों का ही पोषण इसी वातावरण में हुआ। प्रारम्भ से ही उर्दू भाषा भारत के विभिन्न तत्त्वों के प्रति आकर्षित होने लगी थी। सूफियों ने अपनी मिलनसारी और उदारता से इस वृत्ति को बहुत विस्तृत कर लिया था। जब इस भाँति नींव पड़ी तो यह कैसे सम्भव था कि उर्दू अपनी इस उत्तम परम्परा को भी न आगे बढ़ाती? परन्तु इन परम्पराओं को अधिक विकसित करने का अवसर इसलिए न मिला कि यहाँ के लोग किसी विशेष राष्ट्रीय दृष्टिकोण या आन्दोलन के साथ उस समय नहीं चल रहे थे, फिर उर्दू कविता में गजल का दौर इस प्रकार चलता गया कि साहित्य की अन्य प्रवृत्तियाँ उसके प्रकाश में धुँधली पड़ गईं। गज़ल का विशिष्ट विषय सौन्दर्य और प्रेम था। उसको राष्ट्रीयता अथवा राजनीति से कोई विशेष सम्बन्ध न था। परन्तु प्रेम के ही सिलसिले में अथवा अन्य कारणों से प्रभावित गज़लों में ऐसे तत्त्व मिल जाते हैं जिनमें देश-प्रेम, जन-साधारण के प्रति आकर्षण, मानवता का सम्मान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। पुराने कवियों के कुछ उदाहरण निम्न हैं :

१. मुफलिसी सब बहार खोती है।
   मर्द का एतबार खोती है। (वली)
२. मत सहल हमें समझो फिरता है फलक बरसों,
   तब खाक के परदे से इन्सान निकलते हैं। (मीर)
३. मीर के दीनो मजहब को अब पूछते क्या हो, इनने तो
   कशका खींचा, दैर में बैठा, कब का तर्के-इस्लाम किया। (मीर)
४. दुनियाँ तमाम गर्दिश इफलाक से बनी।
   माटी हजार रंग की इस चाक से बनी। (सौदा)
५. मदरसा या दैर था या काबा या बुतखाना था।
   हम सभी मेहमां थे वाँ एक तू ही साहेबखाना था॥

इधर भारत में जब उर्दू के फलने-फूलने का समय आया तो राजनीतिक उत्पातों ने सारे देश की शान्ति ही नष्ट कर दी। औरंगज़ेब के पश्चात् सन् १७०७ से इस देश में यह राजनीतिक उथल-पुथल रही कि सारा वातावरण अस्तव्यस्त हो गया। कभी भारत की सल्तनत के लिए शाहज़ादों का आपस में युद्ध करना, एक भाई का दूसरे भाई को मार डालना, कभी राजपूतों [illegible], कभी [illegible] मराठों का आक्रमण—ये सब आये दिन की घटनाएँ [illegible] सारे देश में [illegible] उड़ रही थी। अमीर-गरीब, मर्द-औरत सभी की

जिन्दगी दूभर हो गई थी। केन्द्रीय सत्ता का इस प्रकार बिखर जाना कोई साधारण बात न थी। और सबसे बडा वज्रपात तो नादिरशाह का आक्रमण था, जो सन् १७३९ ई० मे प्रलय बनकर भारत मे आया। उसकी लूट-मार, हत्या और विध्वंस ने दिल्ली की जो दुर्दशा की वह सबको ज्ञात है। उत्तरी भारत के अधिकतर भाग और विशेषतः दिल्ली तक के लिए तो नादिरशाह एटम-बम से कम न था। उसके आने से राज्य और देश की तबाही कई प्रकार से अपनी सीमा को पहुँच गई। इस पृष्ठभूमि मे दिल्ली का साहित्यिक-समाज क्या रह गया होगा और साहित्य किस प्रकार फूला-फला होगा, इसकी कल्पना करना कठिन नही है। परन्तु इस वातावरण मे भी उर्दू-साहित्य बढता रहा, तूफानो मे पलता रहा। जीवन की करवटें क्रान्ति के झूले मे उसे लोरियाँ देती रहीं। स्पष्ट है कि इस परिस्थति मे खुदा के अतिरिक्त और कौन याद आया होगा? देश के विनाश ने लोगो की आँखे खोल दी थी। कितना भी पाषाण हृदय व्यक्ति क्यो न होता अपने देश की बरबादी पर अफ़सोस किये बगैर न रह सकता। और कवि तो अत्यन्त कोमल हृदय वाला और अनुभूतिशील होता है। वह आठ-आठ आँसू रोने से कब रुक सकता था। इस परेशानी मे शायद कविता ही अधिकतर लोगो का दर्द भुला सकती थी। अतः लोग कवियों से सान्त्वना प्राप्त करने के लिए बहुत-कुछ निकट आते जा रहे थे और हमारे कवि भी समयानुसार देश की दुर्दशा पर कविताएँ लिखते रहे। इन कविताओ मे केवल देश का मर्सिया नही था; बल्कि लोगो की अवनति, चरित्र के पतन, शासन की दुर्बलता हर बात पर इन कविताओ मे आलोचना प्रस्तुत रहती थी। यह नही कि किसी एक कवि ने काम किया, बल्कि हर उल्लेखनीय कवि ने इस प्रकार कविताएँ लिखीं। इन कविताओ को उन्होने 'शहर आशोब' कहा, जिसमे अपने शहर के परदे मे सारे देश की दुर्दशा का दुःख मौजूद है। हातिम, मीर, सौदा, नजीर, जुरअत आदि हर एक के यहाँ ऐसी कविताएँ मिलती है। उदाहरण के लिए सौदा की प्रसिद्ध कविता के कुछ शैर देखिए तो अन्दाज हो कि इन लोगो ने उस जमाने मे, जब राष्ट्रीयता का कोई संगठित विचार भी न था, क्या क्या कहा है। इस कविता मे उन्होने बताया है कि शरीफो और बुद्धिमानो की कद्र खत्म हो गई है। लोगो का स्वाभिमान नष्ट हो चुका है। प्रेम और सौहार्द्र का पता नही, स्वार्थ और षड्यन्त्रो का दौर है। चैन जमाने से उठ गया है। इस कविता को उन्होने इस प्रकार प्रारम्भ किया है :

कहा मैं आज ये सौदा से क्यो तू डावाँडोल।
फिरे हैं, जा कहीं नौकर हो ले के घोडा मोल।
लगा वो कहने वे उसके जवाब मे दो बोल।
जो मैं कहूँगा तो समझेगा तू कि है ठिठोल।
बता कि नौकरी बिकती हैं ढेरियो या तोल॥

....

कवी है मुल्क में मुफलिस, अमीर हैं सो जईफ,
टके कहाँ जो हमें दे के हो उन्होंके हरीफ,
न कुछ रयीअ मे हासिल न दरमियाने खरीफ,
जो आमिल अब हैं मुहालात पर सो यों हैं जईफ,
कि जिस तरह किसी हाकिम के घर गँवार हो ओल।

इसी तरह तबाही बयान करते-करते अमीरो का उल्लेख करते हैं तो कहते हैं :

जो कोई मिलने को गाहे उन्होंके घर आया,
मिले ये उससे गर अपना दिमाग खुश पाया,
जो जिक्रे सल्तनत उसमे को दरमियाँ लाया,
उन्होने फेर के अधर से मुँह ये फ़रमाया,
खुदा के वास्ते भाई कुछ और बातें बोल।

कुछ आगे चलकर सेना की दुर्दशा का वर्णन वे यो करते है :

पडे जो काम उन्हे तब निकल के खाई से,
रखे वो फौज जो मोटी फिरे लडाई से,
पियादा है सो डरे सर मुडाते नाई से,
सवार गिर पडे सोते में चारपाई से,
करे जो ख्वाब में घोडा किसी के नीचे अलोल।

न तर्फे खास मे आमद न खालसा जारी,
सिपाही जा मुतसद्दी सभो को बेकारी,
अब आगे दफ्तरे तन की मै क्या कहूँ ख्वारी,
सवाले दस्तखती फाड करके पंसारी—
किसी को आँवले दे बाँधकर किसी को कटोल।

सो क्या वो नौकरी, कटती है जिसमे यों औक़ात,
मिले है पेट को रोटी सो रो-रो आधी रात,
जो चाहे तन टपे इसमें सिर आगे पीछे हात,
और उसपे यह कि वो तय ठहरे रोजे मौजूदात,
जो पाँचो बाँधे ऐ हथियार और छुठी पिस्तौल॥

किसी के यों न रहा आसिया से ताब उजाग,
हजार घर में से एक घर में अब जले है चिराग,
सो क्या चिराग वो घर है घरों के गम से दाग,
और उन मकानों पे हर सिम्त रंगते है उलाँग,
जहाँ बहार मे सुनते थे बैठकर हिंडोल।

खराब है वो इमारत क्या कहूँ तुझ पास,
कि जिनके देखे से जाती रही थी भूख और प्यास,
और अब जो देखो तो दिल होवे जिन्दगी से उदास,
बजाये गुल, चमनों में कमर कमर है घास,
कहीं सतून पडा है कहीं पडे मिरगोल।

ये बाग था कि जिसकी नज़र नहीं मालूम,
न जाने किसने किया इस जमीं पे मक्दमे शूम,
जहाँ थे सर्वो सनोबर अब उस जगह है जक्कूम,
नहीं है जाग जगन सेते चुगद चमन में घूम,
गुलों के साथ जहाँ बुलबुलें करे थी किलोल।

जहानाबाद तू कब इस सितम के काबिल था,
मगर कभू किस आशिक का यह नगर दिल था,
कि यों उठा दिया गोया कि नक्शे बातिल था,
अजब तरह का ये शहरे जहाँ पै साहिल था,
कि जिसकी खाक से लेती थी खल्क मोती रोल ।

स्थानाभाव के कारण यहाँ पूरी कविता नही दी जा सकती, इधर-उधर के कुछ टुकडे आपके सम्मुख प्रस्तुत है। इससे आपको अन्दाज हो सकता है कि उस समय के कवियो ने भी देश के हर वर्ग को दृष्टि के सामने रखा था। अन्तिम बन्द मे जहानाबाद के जिस स्तर का उल्लेख है उसके महत्त्व को कोई भुला नही सकता। सम्भवतः यह प्रश्न उठे कि जहानाबाद अर्थात् दिल्ली का ही उल्लेख क्यो किया गया। उत्तर यह है कि उस समय दिल्ली की तबाही सारे देश की बरबादी का चित्र प्रस्तुत कर रही थी। जहाँ केन्द्रीय शासन था, जहाँ अधिक-से-अधिक शान्ति होनी चाहिए थी जब वहाँ की दशा यह हो तो दूसरे भागो का अनुमान इससे कर लीजिए। सौदा। (जिनके ये शेर हैं।) संयोगवश शाही सेना मे भी नौकर रह चुके थे। इसलिए उनको सेना आदि की दशा भली भाँति ज्ञात थी। इन काव्यो के अतिरिक्त उर्दू के अन्य साहित्यिक रूपो मे भी स्थान-स्थान पर समय की दशा का परिचय मिलता है। और कवियो के स्वतन्त्र विचारो का पता चलता है। उदाहरणतः वली ने सूरतनगर पर एक कसीदा कहा। नजीर अकबराबादी ने हिन्दुओ के त्यौहारो पर उसी जोर के साथ कविताएँ रची जैसे मुसलमानो की ईद आदि पर। होली, बसन्त और इसके अतिरिक्त मेले-ठेले पर, जिनका जनता से सम्बन्ध है, बराबर कुछ-न-कुछ कहते रहे। कृष्णजी की प्रशंसा मे उन्होने बडी लम्बी और अच्छी कविता लिखी है। इनके अतिरिक्त समाज की दूसरी विशेषताओ को भी उन्होने अपनी रचनाओ मे स्थान दिया। तात्पर्य यह कि उत्तर भारत मे उत्पातो के साथ उर्दू अपना रग बनाये हुए आगे बढ़ती रही रही। साथ ही इससे भी इन्कार नही किया जा सकता कि ऐसे तत्त्व भी आते रहे जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीयता से नही बल्कि व्यक्तित्व से है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन अथवा ऐसी विचार-धाराएँ किसी सगठित रूप मे भारत मे प्रचलित थी। अपने-अपने ढंग से लोग सोच और लिख रहे थे। साहित्य मे भी इसी तरह की झलक मिलती है।

इस युग के कवियो का देश-प्रेम इस सीमा तक था कि जब तक सम्भव हुआ राजाओ को भी यह अवसर न दिया कि मात्र रुपये के कारण अपनी भूमि छोडकर चले जाने के लिए उन्हे आकृष्ट कर सके। सौदा ने उजडी हुई दिल्ली को वैभवशाली लखनऊ से श्रेयस्कर माना, बादशाह के बुलाने पर भी काफी अरसे तक दिल्ली मे पडे रहे। नजीर अकबराबादी को आगरा से कही जाना जिन्दगी-भर पसन्द न हुआ। हैदराबाद के दरबार से बुलावा आया पर वह न गये। अपनी फकीरी मे मस्त रहे। मीर ने जब विवश होकर दिल्ली छोडी और लखनऊ की राह ली तो उनकी भावनाओ की कल्पना इस छोटी-सी कविता से की जा सकती है, जिसको कहा जाता है कि लखनऊ पहुँचने पर उन्होने मुशायरे मे पढा था। लखनऊ वालो की छेड-छाड पर उन्होने सबको सम्बोधित करके कहा :

क्या बूदोबाश पूछो हो, पूरब के साकिनों।

> हमको गरीब जान के हँस-हँस पुकार के।
> दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तिखाब,
> रहते थे मुन्तखिब ही जहाँ रोजगार के।
> जिसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया,
> हम रहने वाले हैं उसी उजडे दयार के।

स्वदेश-पूजा का यह दृष्टिकोण पुराने समय में कुछ विचित्र-सा था। जो जिस जगह रहता था उतने ही को अपना देश समझता था, जिस शहर में, और कभी-कभी जिस कस्बे में लोग रहते थे उसीको अपनी मातृभूमि मानते थे। उसके साथ स्वदेश में रहकर भूखों मरना, देश छोड़कर दूसरे नगर में खाने-कमाने के लिए जाने से अच्छा समझते थे। अतः मीर, नजीर, सौदा आदि (जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया) जहाँ अपनी मातृभूमि समझते थे वहाँ से हिलना अनुचित मानते थे। इस दृष्टिकोण को आज संकुचित समझें या उसका मजाक उड़ाएँ, किन्तु बात कुछ इसी प्रकार की थी। आधुनिक युग में हाली ने इस बुराई को दूर करने की चेष्टा की। उन्होंने अपनी मसनवी 'हुब्बे वतन' में बहुत अच्छे ढंग से समझाया है कि देश-प्रेम इसे नहीं कहते कि अपने घर में बेकार पड़े रहिए और दूसरी जगह जाने की न सोचिए। देश-प्रेम की अभिव्यक्ति विभिन्न रीतियों से हो सकती है। हाली के बाद इकबाल ने प्रारम्भ में इस दृष्टि को बनाये रखने की चेष्टा की, बाद में उन्होंने इसका अत्यन्त विरोध किया और कहने लगे कि स्वदेश कोई विशिष्ट स्थान नहीं, दुनिया का प्रत्येक भाग स्वदेश है। वे पुकारने लगे कि "मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा।" मैं यहाँ स्वदेश-पूजा के दृष्टिकोण पर बहस नहीं करना चाहता। बताना केवल यह है कि पुराने समय में विचार-धारा क्या थी और अब क्या है। जिस युग में जिस कवि ने स्वदेश-प्रेम की अभिव्यक्ति की है वह अपने समय के अनुसार सही हो सकता है और हमारे पुराने कवियों ने जो कुछ लिखा है वह देश-प्रेम के दृष्टिकोण के विवाद से अलग अपने स्थान पर सराहनीय वस्तु थी। वे अपनी मातृभूमि की रीतियों, उसके दृश्यों आदि से प्रभावित थे और दिल खोलकर उस पर कविताएँ लिखते थे तथा किसी विशेष धर्म अथवा सम्प्रदाय से आक्रान्त होकर चुप न हो जाते थे।

प्राचीन एवं आधुनिक युग की सीमान्त-रेखा भारत की एक जबरदस्त ऐतिहासिक घटना है, जो सन् १८५७ में विदेशी राज्य के विरुद्ध हुई। इस विद्रोह में सदा से अधिक भारत की जनता ने विदेशी राज्य के विरुद्ध एकदिल होकर आवाज या तलवार उठाई थी। बिना किसी विवाद के हम इसे राष्ट्रीय आन्दोलन मानते हैं और समझते हैं कि जो प्रयास किया गया था वह राष्ट्र व्यापी था। जन-साधारण एवं विशिष्ट वर्ग दोनों ही समान रूप से इसमें भाग ले रहे थे। परिणाम जो-कुछ हुआ वह सब जानते हैं। पर यह भी समझते हैं कि पराज्य के बावजूद भी भारतवासियों को एक केन्द्र पर किसी राष्ट्र-व्यापी कार्य के लिए इकट्ठा करने का रास्ता खुल गया। इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया उर्दू-साहित्य में कहाँ तक मिलती है इसको आँकना यहाँ तो सम्भव नहीं परन्तु विहंगम दृष्टि से मैं यह अवश्य देखना है कि उर्दू की राष्ट्रीयता ने कहाँ तक अपनी भुजाओं को इस आन्दोलन से स्पर्श किया और इस सिलसिले में उर्दू-साहित्य को क्या लाभ हुआ।

सन् १८५७ या उसके आस-पास के काल का प्रभाव उर्दू-साहित्य पर न पड़ना असम्भव था, क्योंकि उर्दू की प्रकृति और वृत्ति के अतिरिक्त ऐसे शासक भी थे, जो उर्दू के कवि और भारत

के लोकप्रिय बादशाह थे। उनके जीवन पर सीधे इस घटना का प्रभाव पडा। दिल्ली मे बहादुरशाह 'जफर' और लखनऊ मे वाजिदअलीशाह विदेशी राज्य के साथ जिस तरह तबाह हुए उसके बताने की आवश्यकता नही। उनका राज्य गया, स्वतन्त्रता गई, देश छूटा, घर से बेघर हो गए। इन दुर्घटनाओ के बाद भी इन कवि-बादशाहो की वाणी बन्द कैसे हो सकती थी। इन लोगो ने अपनी विपत्ति का वर्णन किया और अपनी प्रजा तथा अपने देश का भी दर्दनाक हाल सुनाया। उनके शेरो के अतिरिक्त भी हमको उर्दू-साहित्य मे ऐसा काव्य मिलता है जो १८५७ के हत्याकाण्ड, लूट मार और तबाही का चित्र उपस्थित करता है। इसी जमाने मे मुन्शी मुनीर शिकोहाबादी बड़े प्रसिद्ध कवि हुए। उनको भी राज-द्रोह मे अंग्रेजो ने काला पानी भेज दिया था। उनकी जबान से कुछ उस समय की दशा की कल्पना कीजिए कि हमारे कवियो का सोचने का ढंग क्या था :

अमीरो से बलाये ग़द्र पहुँची उन ग़रीबों तक,
कि वेदरदी व ज़ोफ़ेहाल में जिनका नहीं सानी।
अदालत इन दिनों ऐसी बढाई है ज़माने ने,
कि शमशीरो गुलू पीते हैं एक ही घाट पर पानी।
बनाई बेडियाँ तलवार को तुड़वा के गर्दू ने,
किया अरबाबे जौहर को हरेक हीले से ज़िन्दानी।
बहादुर नौहागर है मातमें मरगे शुजाअत मे,
बजाये नारये शेराना सीखे मरसिया ख़्वानी।
जहाँ देखो सडक पर मजमये वहशत की कसरत है,
नज़र आता है हर मेले में अंबोहे परेशानी।
अदालत से मिली है चुग़ दो, बूमो जाग़ की डिगरी,
हुई है ज़ब्त मिलके बुलबुलो ताऊसे बुस्तानी।
गुलिस्ताने अरम मे धूम है मरघट की दावत की,
तकल्लुफ से हैं कैसरबाग में घूरे की मेहमानी।

इसके बाद वह चित्र खीचते है कि सारे भारत मे मौत नज़र आती है, जहाँ देखो लो· को फाँसी दी जा रही है। खून बहने का यह हाल है कि :

कुटी सुरखी सडक पर जानते हैं देखने वाले,
हुआ है खूने नाहक से यह फरशे ख़ाक अफ़शानी।

आगे चलकर बताते है कि छोटे-छोटे बच्चे किस तरह मौत की नींद सुलाये गए। औरत को गेहूँ क्या भूसी भी न मिल सकी। इस प्रकार के वर्णन उर्दू-साहित्य मे भरे पड़े हैं। स्थान भाव के कारण हम अधिक उदाहरण नही दे सकते।

सन् १८५७ तक उर्दू मे गजलो का प्राधान्य था, और वस्तुएँ अपेक्षाकृत कम है परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय और गजल की विषय-वस्तु पर विचार किया जाय तो साहित्य म राष्ट्रीयता के तत्त्व काव्य के इस रूप मे अन्य रूपो से कम नही। गजल का विशिष्ट विषय प्रेम था और प्रेम भी वह जो प्रकाशमान हो, जिसके द्वारा मनुष्य संकुचित दृष्टि की परिधि से छूट जाता है। मानव-मात्र के प्रति अनुरक्ति होती है और धर्म एवं सम्प्रदाय की रुकावटे दूर हो जाती हैं। प्रेम का अंश इतना बढ जाता है कि वह हर वस्तु को प्रेम की ही दृष्टि से देखने

लगता है। सामाजिक रूढ़ियाँ, जो मनुष्य को मनुष्य से मिलने नहीं देतीं, उनसे वह विद्रोह करता है। इसके अतिरिक्त गजल की टेकनीक और विषय-वस्तु दोनों ऐसी थी कि वे अपनी परिधि में अधिक-से-अधिक मानवता को समेटती रहीं। विभिन्न विचारों और प्रवृत्तियों के लोग एक जगह होकर इस घाट पर पानी पीते रहे। उर्दू का सबसे बड़ा केन्द्र गजल ही था, जहाँ अधिक-से-अधिक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई एक होकर काव्य का रसास्वादन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह से गजल भी बिखरे हुए दानों को एक माला में गूँथती रही और राष्ट्रीय तत्त्वों का एक बड़ा मोर्चा बनकर राष्ट्रीयता की रक्षा करती रही।

सन् १८५७ के बाद से भारत में राजनीतिक पद्धतियाँ तेजी से जागने लगीं। लोग अपने को सावधान और संगठित करने के लिए तैयार हो गए। परन्तु काम करने का ढंग अच्छा न था। अधिकतर धर्म के ही ढाँचे पर राष्ट्रीयता का निर्माण होता रहा। सुधारवादी आन्दोलन को लोग राजनीतिक आन्दोलन मानने लगे। साहित्य में भी इस प्रकार के आन्दोलन परिलक्षित हुए। अपने-अपने वर्ग को उभारने के लिए हर नेता ने अपने ढंग से काम करना और सोचना आरम्भ कर दिया। उर्दू-काव्य में मुहम्मद हुसैन आजाद, इकबाल और हाली ऐसी कविताएं लिखने लगे जो लोगों को क्रियाशीलता की ओर प्रेरित करें अर्थात् ये लोग धारणाओं एवं वृत्ति में परिवर्तन करना चाहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ पाश्चात्य प्रभावों से तथा कुछ इन लोगों के विचार से प्रभावित होकर धारणाएँ प्रतिदिन बदलती रहीं। विदेशी राज्य की उपस्थिति और अपनी दासता की अनुभूति ने भारतीयों को राष्ट्रीय बनने की चिन्ता में व्यस्त कर दिया। राष्ट्रीयता के विभिन्न तत्त्व विभिन्न रीतियों और दिशाओं से एकत्र होने लगे। उर्दू-साहित्य में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त स्वदेश के महत्त्व और प्रेम पर अधिक और उत्तम कविताएँ आने लगीं। हाली, आजाद, इकबाल सबने बढ़कर देश-भक्ति का राग उठाया। हाली ने पूरी एक किताब 'हुब्बे वतन' के नाम से लिख डाली। आजाद ने कई कविताएँ देश प्रेम पर लिखीं और इसी तरह से समस्त भारतवासियों को एक स्थान पर एकत्र होने का निमन्त्रण देने लगे। उदाहरणार्थ इकबाल का यह शेर लीजिए जो अपने काव्यारम्भ में उन्होंने कहा था :

सच कह दूँ ऐ बिरहमन गर तू बुरा न माने
तेरे सनमकदे के बुत हो गए पुराने।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा
जंगो जदल सिखाया वाइज़ को भी ख़ुदा ने।
तंग आके हमने आख़िर दैरो हरम को छोड़ा
वाइज़ का वाज़ छोड़ा, छोड़े तेरे फ़साने।
ग़ैरियत के पर्दे एक बार फिर उठा दें
बिछड़ों को फिर मिला दें नक्शे दुई मिटा दें।

सन् १८८५ के बाद जैसे-जैसे हिन्दुस्तान का राजनीतिक वातावरण बदलता गया वैसे ही [illegible] दिखलाई पड़ने लगीं। हाली, आजाद, [illegible] सुधारवादी आन्दोलन की ओर होने लगा। [illegible] के अनुसार राजनीतिक आन्दोलन पर [illegible] नहीं रही। कांग्रेस की स्वराज्य शासन की

माँग के साथ, जो सन् १६०६ मे उठी थी, उर्दू-कविता पूर्णतः घुल-मिल गई थी। अतः १६१६ से जब होमरूल का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो उर्दू-कविता ने बडे जोश, उत्साह और सचाई के साथ इसमे भाग लिया। इससे पहले के राजनीतिक आन्दोलन न तो इतने व्यापक थे, न उनमे इतना जोर ही था। इस कारण उर्दू-कविता मे अब सदा से अधिक जोश-खरोश आया। चारो ओर वातावरण मे स्वतन्त्रता की भावना देखकर उर्दू ने भी राष्ट्रीय भाषा होने की हैसियत से इस आन्दोलन के प्रसार मे भाग लेना अपना कर्तव्य समझा। पं० बृजनारायण 'चकबस्त' इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त नजर आए। उनको उर्दू-कविता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर होमरूल के राजनीतिक आन्दोलन मे उतार दिया। 'चकबस्त' ने भी अपना कर्तव्य इस खूबी से निबाहा कि समाज के सभी वर्गों मे उनकी कविता फैल गई। उनकी नज्मे हर राजनीतिक अथवा अर्धराजनीतिक अधिवेशन के लिए आवश्यक हो गई। सत्य तो यह है कि वह इस सचाई और कलात्मकता के साथ अपना काव्य प्रस्तुत करते रहे कि हर समझने वाले के दिल मे आग लग जाती थी। इनके कुछ शेर नीचे प्रस्तुत किये जाते है :

ये खाके हिन्द से पैदा हैं जोश के आसार, हिमालिया से उठे जैसे अब्रे दरिया बार
लहू रंगो में दिखाता है बर्क की रफ़्तार, हुई हैं खाक के पर्दे मे हड्डियाँ बेदार
जमीं से अर्श तलक शोर होमरूल का है
शबाब कौम का है ज़ोर होमरूल का है

है आजकल की हवा मे वफ़ा की बरबादी, सुने जो कोई तो सारा चमन है फरियादी
कफस में बन्द हैं जो आसमाँ के थे आदी, उडा है बाग़ से बू होके रंगे आज़ादी
हवाये शौक मे गुन्चे विकस नहीं सकते
हमारे फूल भी चाहे तो हँस नहीं सकते।

इस आन्दोलन के साथ सारा भारत जाग उठा। उर्दू वाले भी जोर-शोर से इसमे भाग लेते रहे। 'चकबस्त' के पहले से ही 'इकबाल' ने उर्दू-कविता मे राष्ट्रीय तत्त्वों को बडे चातुर्य से प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके काव्य मे दार्शनिक रग था। उन्होने अपने ढंग से बताना प्रारम्भ किया कि गिरे हुए राष्ट्र कैसे उभर सकते है, व्यक्ति को क्या करना चाहिए, शासक और शासित का सम्बन्ध क्या और क्यो होता है, यूरोप क्यो तबाह हो रहा है, स्वदेश क्या वस्तु है; तात्पर्य यह कि ये सभी बाते विद्वत्तापूर्ण ढंग से राष्ट्रीय आवरण मे 'इकबाल' कहते रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीयता का साधारण दर्शन शीघ्रता से उर्दू मे व्यक्त होने लगा। इन लोगो से सहमति अथवा असहमति का विवाद छोडकर हम यह देखते है कि उर्दू-साहित्य मे राष्ट्रीयता और राजनीति का मूल्यवान कोष इकट्ठा होता रहा।

१६१४ से १६१८ तक का काल दुनिया के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था। पहले विश्व-युद्ध के फलस्वरूप दुनिया के राष्ट्र बन-बिगड रहे थे। युद्ध समाप्त होते-होते भारत भी बिलकुल बदलने लगा। १६१८ से भारत के क्रान्तिकारी जीवन की शृङ्खला प्रारम्भ हो जाती है। एक ओर सत्याग्रह, रौलट-बिल, खिलाफत आदि के आन्दोलन हुए दूसरी ओर महात्मा गाधी ने राजनीतिक क्षेत्र मे पदार्पण किया। हवा मे 'गाधीजी की जय' के नारे गूँजने लगे। १६ अप्रैल १६१६ का दिवस पहली बार भारत-व्यापी हडताल और सत्याग्रह के लिए चुना गया। एक नया ही वातावरण देश मे छा गया। चारो ओर से लोगों के साथ उर्दू-कविता भी बढकर राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग

लेने लगी। असहयोग के साथ लोगों को जेल जाने का भी डर न रह गया। इसीलिए पूरी स्वच्छन्दता से उर्दू-कवि अंग्रेजी राज्य की बुराई करने और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लेने लगे। उर्दू-कविता की वृत्ति इतनी शीघ्रता से बदली कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी लेने लगी। कार्लमार्क्स के दर्शन और रूस के व्यावहारिक जीवन से प्रभावित होकर समाजवाद की ओर भी झुकाव पैदा हुआ। इस काल में विदेशी राज्य का विरोध करते-करते उर्दू में कई ऐसे कवि आगे आये जिन्होंने अपने स्वतन्त्र विचारों के आधार पर उर्दू में ऐसे तत्त्व प्रस्तुत किये जिनमें समाजवाद की झलक थी। इन लोगों में 'जोश मलीहाबादी' का नाम सर्वोच्च और उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कला और निर्भीकता से ऐसी कविता प्रारम्भ की, जो युग की पुकार बन गई। प्रगति और स्वतन्त्रता के सिलसिले में उन्होंने हर ऐसी रीति और प्रवृत्ति से विद्रोह की घोषणा की, जो रास्ते में रुकावट पैदा करे—चाहे उसका सम्बन्ध धर्म से हो या सामाजिक रीतियों या शासन से। उन्होंने पूरे ओज से राजनीतिक आन्दोलन के साथ अपनी कविता के स्वर को मिला दिया। उनकी कला में इतना चमत्कार था कि बड़े-से-बड़े और छोटे-से छोटे आदमी उनकी कविता की ओर आकृष्ट हो गए। उनके प्रभाव से हर ओर के लोग इसी प्रकार की कविता लिखने लगे। 'जोश' ने पूरी-पूरी कविता की प्रवृत्ति ही बदल दी। आवश्यकता और महत्त्व के विचार से आज उर्दू का हर उल्लेखनीय कवि राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर कुछ न-कुछ लिख रहा है। अतः १९४७ के विभाजन के बाद जिस हत्या-काण्ड और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई उसके विरुद्ध आवाज उठाने में उर्दू से अधिक शायद ही भारत की किसी भाषा ने प्रयास किया हो। परिणाम यह है कि आज हमारे साहित्य में राष्ट्रीय तत्त्वों का वह भाग एकत्र हो गया है जिस पर किसी भी बड़ी भाषा को गर्व हो सकता है।

प्रबन्ध-सार

डॉक्टर रामसिंह तोमर

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

प्राकृतो का भारतीय आर्य भाषा के इतिहास मे बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश की संस्कृति का माध्यम प्राकृते बहुत समय तक रही है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कई मत है। हेमचन्द्र के अनुसार 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृति या मूल आधार संस्कृत है, उससे जो उत्पन्न है वह प्राकृत है। कुछ अन्य के अनुसार 'प्राक्-कृत' अर्थात् जो पूर्व मे हुई, वह प्राकृत है। कहना न होगा कि प्रथम मत अपूर्ण है तो दूसरा निराधार।

आज का उपलब्ध प्राकृत-साहित्य ६०० ई० पू० से आरम्भ होकर १८०० ई० तक आता है, जिसका विभाजन निम्न ढंग से किया जा सकता है—

१. धार्मिक प्राकृत-साहित्य—
   - (अ) विशुद्ध धार्मिक, साम्प्रदायिक सिद्धान्तो आदि का विवेचन, पालि मे रचित बौद्ध-साहित्य तथा अर्ध मागधी एवं शौरसेनी मे रचित जैन-धार्मिक साहित्य।
   - (आ) धार्मिक, साहित्यिक पालि कथा-साहित्य, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी मे रचित साहित्य एवं जैनो द्वारा रचित अपभ्रंश-साहित्य।

२. साहित्यिक (ललित) प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश-साहित्य।
   - (अ) स्वतन्त्र कृतियो के रूप मे, तथा
   - (आ) अन्य ग्रन्थो मे उद्धरणो के रूप मे प्राप्य प्राकृत-साहित्य।

३. नाटको मे प्राप्त प्राकृत-साहित्य।

४. भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशो मे प्राप्त साहित्य—प्राकृत धम्मपद, निय प्राकृत तथा खोतान एवं मध्य एशिया आदि मे प्राकृत-साहित्य।

५. शिला-लेखो का प्राकृत

६. मिश्र संस्कृत—'गाथा डायलेक्ट'

पालि यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही एक रूप है, पर प्रायः उसे प्राकृत से पृथक माना जाता है, अतः यहाँ पालि-साहित्य नहीं सम्मिलित किया गया है। अर्ध मागधी और

शौरसेनी के धार्मिक जैनागमों को भी शुद्ध साहित्य की श्रेणी में न आने के कारण छोड़ दिया गया है।

जैन-प्राकृत साहित्य

जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा गया है। दिगम्बरों ने शौरसेनी प्राकृत में लिखा है तो श्वेताम्बरों ने महाराष्ट्री में। जैन-प्राकृत-साहित्य के प्रधान कवियों एवं लेखकों और उनकी रचनाओं का परिचय संक्षेप में निम्न है—

विमल सूरि—इस क्षेत्र में प्रथम कृति विमलसूरि की 'पउमचरियं' है। इसमें राम-कथा को जैन रूप दिया गया है। बालि का विरक्त होना तथा रावण का लक्ष्मण के हाथों मारा जाना आदि इसकी नवीनताएँ हैं। इसकी भाषा बड़ी सरल और प्रवाहयुक्त महाराष्ट्री है। इसमें गाथा छन्द विशेषतः प्रयुक्त हुआ है। इसके लेखक विमलसूरि के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना चौथी सदी से पूर्व की नहीं हो सकती।

पादलिप्ताचार्य—इनका रचित 'तरंगवती' एक कथा-ग्रन्थ कहा जाता है। यह ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं है। इसका एक संक्षिप्त सस्करण 'तरंगलीला' नाम का प्राप्त हुआ है। इसके संक्षिप्त-कर्ता नेमिचन्द्र ने बतलाया है कि मूल कृति बड़ी भारी, सुन्दर और कठिन थी। विद्वानों का अनुमान है कि पादलिप्ताचार्य का समय ५ वीं सदी से कुछ पूर्व होगा।

संघदास गणि—इन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत में 'वसुदेव हिंडि' नाम की गद्य-पुस्तक लिखी है। इसमें वसुदेव के भ्रमण की कथा है। इसका आधार 'महाभारत' और 'हरिवंश' है। इसे धर्मदास और संघदास ने पूरा किया है। रचना-काल सातवीं सदी से कुछ पूर्व ज्ञात होता है।

हरिभद्र—'समराइच्च कहा' इनकी गद्य-कृति है, जिसमें नायक गुणसेन और प्रतिनायक अग्निशर्मा के ९ जन्म की कथाएँ वर्णित हैं। इनकी भी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। बीच-बीच में इसमें पद्य भी है। हरिभद्र की दूसरी कृति 'धूर्ताख्यान' है, जो ब्राह्मणों पर एक कटु व्यंग्य-काव्य है। हरिभद्र की और भी कई कृतियाँ कही जाती हैं। इनका समय ७०० से ७८० ई० माना जाता है।

उद्योतनसूरि—इनकी प्रसिद्ध कथा-कृति 'कुवलयमाला कथा' जैन महाराष्ट्री में रचित [illegible] धर्म-कथा है। कृति का रचना-काल कवि ने शक सं० ७०० दिया है।

लौकिक कथा-कृतियों के प्रधान ग्रन्थ और उनके रचयिताओं के परिचय के बाद हम लोग धर्मोपदेश-प्रधान कथाएँ ले सकते हैं, जिनमें साहित्यिक सरसता उपर्युक्त ग्रन्थों की भाँति नहीं है।

जयसिंह सूरि—उपदेशों से युक्त मूल गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए अनेक कथाएँ लिखी गईं। सूरि ने भी '५६ कथाओं' की गद्य-पद्य-मिश्रित रचना की, जिसका नाम 'धर्मोपदेश माला-विवरण' है। इनका रचना-काल सं० ९१५ है।

शीलांकाचार्य—इनका दूसरा नाम शीलांक सूरि भी था। इन्होंने जैन-सम्प्रदाय के ६३ महा-पुरुषों के जीवन का वर्णन अपनी विशाल कृति 'महापुरुष चरित' में किया है। ग्रन्थ का रचना-काल ८६८ ई० है।

[illegible]—सन् [illegible] में इन्होंने 'सुरसुन्दरी कथा' नाम के चम्पू-ग्रन्थ की रचना की।

दसवी सदी के आस-पास की एक अज्ञात कवि की रचना 'कालकाचार्य कथानक' मिलती है, जिसमे उज्जैन के एक राजा की पराजय वर्णित है।

धनेश्वर मुनि—इन्होंने 'सुरसुन्दरी चरिय' नाम का एक सुन्दर प्रेमाख्यान लिखा है। इसका रचना-काल सं० १०६५ वि० है।

महेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञान पंचमी कथा' है, जिसमे २००० गाथाओ मे दस कथाएँ है। इनके समय का ठीक पता नही है।

जिनेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कथा कोशप्रकरण' है, जिसमे श्रावकों के लिए उपदेश है। इनकी दूसरी रचना 'लीलावती कथा' कही जाती है, पर अभी तक यह कहीं मिल नहीं सकी है। इनका रचना-काल सम्वत् की १२वी सदी का प्रथम चरण है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ऊपर के अन्य लेखकों और कवियो की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुमारपाल चरित' है, जिसका आरम्भ का दो तिहाई भाग संस्कृत मे और शेष प्राकृत एवं अपभ्रंश मे है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि कुमारपाल के चरित के साथ-साथ संस्कृत और प्राकृत के सिद्ध रूपो के प्रयोग भी इसमे है। इसके अतिरिक्त इन्होने जैन-सिद्धान्त, काव्य-समीक्षा, व्याकरण, छन्द, पुराण और कोष आदि अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे है। प्राकृत से सम्बन्धित उनकी दो कृतियाँ—'देशीनाममाला और' 'छन्दानुशासन' है। पहला शब्द-संग्रह है और दूसरा छन्द-ग्रन्थ। इनका समय सं० ११४५–१२२६ तक है।

लक्ष्मण मणि—इन्होने ८७०० गाथाओ मे 'सुपार्श्वनाथ चरित' की रचना की, जिसमे सातवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र है। कृति का रचना-काल संवत् ११९९ वि० है।

सोमप्रभाचार्य—इनके दो प्राकृत-ग्रन्थ 'सुमतिनाथ चरित्र' और 'कुमारपाल प्रतिबोध' उपलब्ध है। पहली कृति पाँचवे तीर्थंकर सुमतिनाथ से सम्बद्ध है और दूसरी कुमारपाल से। इनका रचना-काल विक्रम की १३ वीं सदी का मध्यकाल है।

जिन हर्षगणि—पौषध व्रत के दृष्टान्त के रूप मे कथित 'रयणसेहरी कहा' इनका एक प्रेमाख्यान है, जिसमे जायसी के रत्नसेन की भाँति रत्नशेखर रत्नवती का रूप-वर्णन सुन मुग्ध होकर सिंहल द्वीप पहुँचता है और कठिनाइयो के बाद परिणय होता है। जिनहर्षगणि का समय विक्रम की १५वीं शती का अन्तिम चरण है।

अनन्तहंस—इनकी 'कुर्मा पुत्र कथा' प्राकृत-गाथाओ की छोटी-सी कृति है, जिसमे भाव-शुद्धि की महिमा वर्णित है।

यह जैन प्राकृत-साहित्य के कुछ थोडे-से लेखको तथा उनकी कृतियो का संक्षिप्त परिचय है। अभी इस प्रकार की बहुत अधिक सामग्री है, पर प्रकाश मे न आने से इतने से ही सन्तोष करना पड रहा है।

इस साहित्य पर दृष्टिपात करने से कथा के अनेक प्रकारों के दर्शन होते हैं, साथ ही धार्मिक, लौकिक, स्वतन्त्र तथा अवान्तर कथाएँ एकसूत्र में पिरोने के ढंग आदि अनेक विशेषताएँ भी मिलती है। धार्मिकता और उपदेशात्मकता के साथ-साथ कल्पना आदि साहित्यिक तत्त्व तथा सामाजिक चित्र भी पर्याप्त मात्रा मे इन ग्रन्थो मे मिलते है।

साहित्यिक प्राकृत

प्राकृत मे विशुद्ध साहित्यिक रचनाएँ भी हुई है। रूपकों-उपरूपकों मे तो सभी प्राकृतो

का प्रयोग मिलता है पर मुक्तक तथा प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। महाराष्ट्री प्राकृत में प्राप्त साहित्य १. मुक्तक और २. प्रबन्धात्मक, दो वर्गों में रखा जा सकता है।

मुक्तक साहित्य-संग्रह और अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पद्य इन दो रूपों में मिलता है। संग्रह अभी तक केवल दो प्राप्त हुए हैं—१. 'गाथा सप्तशती' और २. 'वज्जालग्ग'।

गाथा सप्तशती—इसमें ७०० प्राकृत-गाथाएँ हैं, जो अलग-अलग अपने-आपमें पूर्ण हैं। इसमें कहीं तो शृङ्गार से ओत-प्रोत स्त्रियों के चित्र हैं और कहीं प्रकृति के। नीति, सुभाषित और लोकोक्तियाँ भी यत्र-तत्र देखने को मिल जाती हैं। शृङ्गार-रस की गाथाएँ इसमें अधिक हैं, जिनमें अनेक प्रकार की नायिकाओं के कार्य-कलाप या उनके हृदय के भाव वर्णित हैं। इसके संग्रहकर्ता हाल या सातवाहन हैं। इसका संग्रह-काल बड़ा विवादग्रस्त है। यदि आन्ध्र देश के सातवाहन को संग्रहकर्ता माना जाय तो ६९ ई० के आस-पास ग्रन्थ का संग्रह-काल माना जा सकता है।

वज्जालग्ग—इसमें ७०४ प्राकृत-गाथाएँ हैं। इसमें सुभाषितों की भाँति विभिन्न विषयों की गाथाएँ शीर्षकों में बाँटकर रखी गई हैं। यहाँ भी शृङ्गार का आधिक्य है; पर साथ ही नीति, सज्जन-दुर्जन-निन्दा, तथा प्रकृति-चित्र भी हैं। यह भी 'गाथा सप्तशती' की भाँति संग्रह-ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्ता जयवल्लभ के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इसका संग्रह सं० १३९३ वि० के पूर्व हुआ माना जाता है।

बहुत-से प्राकृत-छन्द संस्कृत और प्राकृत के विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इस दृष्टि से भरत के 'नाट्य-शास्त्र' (ई० पू० २०० से २०० ई० के बीच) के ध्रुव-गीत, आनन्दवर्धन (९०० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत ४५ प्राकृत-छन्द, भोज (११वीं शती ई०) के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के ३५० छन्द तथा हेमचन्द्र (११४५-१२२९ वि०) के 'काव्यानुशासन' एवं उसकी वृत्ति के ८० छन्द प्रधान हैं। इसी प्रकार 'दशरूपक', 'काव्यालंकार', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रस-गंगाधर' आदि में भी बहुत-से प्राकृत के छन्द मिलते हैं।

इन प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राकृत-छन्दों के उद्धृत किये जाने से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि प्राकृत का महत्त्व संस्कृत के पण्डितों द्वारा भी उस युग तक स्वीकार कर लिया गया था।

प्राकृत में मुक्तक-साहित्य की भाँति ही प्रबन्ध-काव्यों की धारा भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। आज इसके बहुत-से प्रबन्ध-काव्य लुप्त हो गए हैं, फिर भी जो आज हैं, बहुत उत्कृष्ट हैं और अपनी धारा की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं। यहाँ कुछ प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों और उनके लेखकों का संक्षिप्त परिचय देखा जा सकता है—

प्रवरसेन—इनका प्रसिद्ध महाकाव्य 'सेतु-बन्ध' या 'रावण-वध' १५ आश्वासों में विभक्त [illegible] है। इसमें सीता-हरण के बाद से आरम्भ होकर रावण-वध के बाद राम लक्ष्मण [illegible] लौटने तक की कथा संक्षेप में दी गई है। कृति का अधिक भाग सेतुबन्ध से सम्बन्धित [illegible] महाराष्ट्री प्राकृत है। साहित्यिक दृष्टि से कृति सुन्दर है। इसके रचयिता प्रवर-[illegible] निश्चित है। अधिक सम्भावित मत यही ज्ञात होता है कि वे काश्मीर के [illegible] सन् [illegible] से [illegible] तक था। सम्भवतः 'सेतु बंध' या 'रावणवध' [illegible] इन्होंने [illegible]।

वाक्पतिराज—इनका प्रबन्ध-काव्य 'गौडवध' महाराष्ट्री प्राकृत मे रचा गया है। इसमे कन्नौज के राजा यशोवर्मा की विजय-यात्रा तथा गौड नृप का वध वर्णित है। १२९० छन्दो की यह कृति अध्यायो मे विभक्त नही है। विभिन्न वर्णन कहीं-कहीं कुलको मे विभक्त है। वाक्पतिराज यशोवर्मा के मित्र और कवि थे। इनका समय यशोवर्मन के आधार पर ७वीं सदी के अन्तिम चरण और आठवी के प्रथम चरण के बीच मे है।

श्रीकृष्ण लीला शुक—इनका प्रबन्ध-काव्य 'चिह्न काव्य' है। इसमे बारह सर्गो मे श्रीकृष्ण की लीला-वर्णन के साथ-साथ त्रिविक्रम देव के प्राकृत-सूत्रो की व्याख्या की गई है। इसी कारण इसकी प्रबन्धात्मकता त्रुटिपूर्ण हो गई है। रचयिता का समय १३वीं शती ई० है।

कौतूहल—इनकी रचना 'लीलावती-कथा' एक प्रेम-काव्य है। इसमे सातवाहन और लीलावती का प्रेम वर्णित है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। कवि ने स्पष्ट रूप से अपने नाम का उल्लेख नही किया है किन्तु कुछ छन्दो मे 'कौतूहल' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही कवि का नाम ज्ञात होता है। कवि का समय १००० ई० के पूर्व माना जा सकता है।

नाटकीय प्राकृत

नाट्य-शास्त्र के विशारदो ने रूपको मे भी प्राकृतो के प्रयोग का विधान किया है। प्रायः स्त्रियाँ और सेवक आदि संस्कृत-नाटको मे भी स्वाभाविकता के लिए प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं। ये प्राकृतें प्रायः शौरसेनी या महाराष्ट्री हैं। रूपको मे प्राकृतो के आंशिक प्रयोगो के अतिरिक्त कुछ सट्टक भी मिलते है, जो आद्यन्त प्राकृत मे है। प्राचीनतम प्राप्त सट्टक राजशेखर (८८०-९२० ई०) की 'कर्पूर मंजरी' है। इसमे शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। इस श्रेणी की कुछ अन्य रचनाएँ नयचन्द्र की 'रंभा मंजरी' (१५वी सदी ई०), रुद्रदास की 'चन्द्रलेखा सट्टक' (१७वी सदी ई०), विश्वेश्वर की 'शृङ्गार मंजरी सट्टक' (१८वी सदी) तथा घनश्याम की 'आनन्द सुन्दरी सट्टक' (१८वी सदी) आदि है। वस्तु और शैली दोनो दृष्टियो से ये सभी सट्टक 'कर्पूर मंजरी' से प्रभावित हैं।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की प्राकृत

सन् १८९२ ई० खोतान मे खरोष्ठी लिपि मे लिखित एक 'धम्मपद' मिला है, जो प्राकृत मे है। इस प्राकृत धम्मपद की भाषा को विद्वानो ने उत्तरी-पश्चिमी देश की बोली कहा है। इसी प्रकार चीनी तुर्किस्तान मे भी कुछ लेख मिले है। इनकी भाषा भी यही है। निय स्थान पर विशेष रूप से मिलने के कारण कुछ लोगो ने इसे निय प्राकृत कहा है। इस प्राकृत का विशेष महत्त्व भाषा की दृष्टि से है। साहित्यिकता इसमे प्रायः नहीं के बराबर है।

शिला-लेखों की प्राकृत

प्राकृत मे प्राप्त प्राचीनतम शिला-लेख अशोक के हैं। उसके बाद के भी बहुत से शिला-लेख विभिन्न प्रान्तो मे ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि मे मिलते है। देश के अनुसार इनकी भाषा भिन्न है। इनमे भी साहित्यिकता नही के बराबर है।

प्राकृत-साहित्य की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है। प्राकृतो का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती से लेकर १८वी शती तक विभिन्न प्रान्तो मे विभिन्न रूपो मे होता रहा है। गद्य, पद्य, कथा, गीति, मुक्तक, प्रबन्ध तथा नाटक आदि सभी इसमे मिलते है, जो साहित्यिकता की दृष्टि से पर्याप्त सुन्दर और प्रौढ हैं तथा जिन्होने अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओ के साहित्य को ही नहीं एवं

बहुत अंशों में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ एवं छन्द आदि इसके अपने हैं।

अपभ्रंश-साहित्य

संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त शब्द-रूपों को पतंजलि ने अपशब्द या अपभ्रंश (=पतित) कहा है। पर इन शब्दों से 'अपभ्रंश' का कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का उल्लेख करने वाले प्रथम व्यक्ति भामह हैं। आगे फिर दंडी ने भी इसका उल्लेख किया है और इसे आभीरों से सम्बद्ध बतलाया है। इसका अर्थ यह है उस समय अपभ्रंश में रचना होने लगी थी। देश-भेदों के अनुसार पहले-पहल रुद्रट ने अपभ्रंशों के भेदों का उल्लेख किया है। राजशेखर (८८०-६२०) के समय तक अपभ्रंश पतित भाषा न समझी जाकर राज-दरबारों में सम्मान पाने लगी थी। आभीरों और गुर्जरों का अपभ्रंश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये अनार्य थे, अतः इनके संसर्ग से यहाँ की भाषा नई दिशा में चली गई। बाद में इन लोगों ने इसमें रचना आरम्भ की तथा इसे साहित्यिक महत्त्व दिलाया।

अपभ्रंश के लोगों ने तरह-तरह से भेद किये हैं। किसी ने ३ भेद तो किसी ने ११, और किसी ने २७। 'अपभ्रंश' के 'अपभ्रंश' के अतिरिक्त अवहट्ट, अवहंस तथा पटमंजरी आदि और भी कई नाम मिलते हैं।

अपभ्रंश-साहित्य का आरम्भ विक्रम की ८वीं शती के पहले तक जाता है, यों इसकी क्षीण रेखा ईसा की तीसरी शती तक भी मिल जाती है। इधर १६वीं-१७वीं तक इसकी सीमा-रेखा है।

इस पूरे साहित्य को जैन, बौद्ध, सिद्ध, शैव और ऐहिकतापरक इन चार धाराओं में देखा जा सकता है।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य

इसकी धारा वि० की ८वीं सदी से १६वीं सदी तक मिलती है। इसमें भी प्राकृत की भाँति मुक्तक और प्रबन्ध दो प्रकार की रचनाएँ हुई हैं।

मुक्तक शाखा की एक उपशाखा 'रहस्यवादी धारा' कही जा सकती है। योगीन्द्र, रामसिंह तथा सुप्रभाचार्य इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

योगीन्द्र—योगीन्द्र की 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' दो कृतियाँ मिलती हैं। इनमें ईश्वर, आत्मा तथा मोक्ष आदि के विषय में प्रश्नोत्तर हैं तथा कहीं-कहीं नैतिक उपदेश हैं। इनके कुछ और भी ग्रन्थ कहे जाते हैं पर उनकी भाव-धारा इन ग्रन्थों से नहीं मिलती। योगीन्द्र के सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

रामसिंह मुनि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाहुड-दोहा' है। इसमें गुरु, आत्मसुख, आत्मा और देह, समरसी भाव तथा मोक्ष आदि का विवेचन है। स्त्रियों की निन्दा तथा कुछ नीति की अन्य बातें भी इसमें मिलती हैं। विद्वानों का मत है कि इनका समय १००० ई० के लगभग है। 'पाहुड-दोहा' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। इसमें कुछ छन्द संस्कृत तथा प्राकृत के भी हैं।

सुप्रभाचार्य—इनकी एक छोटी-सी रचना 'वैराग्य सार' मिलती है। इसमें संसार के दुःखों से डरकर और मद मानकर वैराग्य भाव अपनाने का आदेश है। माया, ममता आदि से

दूर रहने को भी कहा गया है। कवि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। भाषा के आधार पर उनका समय १००० ई० के आस-पास माना जा सकता है।

इस धारा के अन्य ग्रन्थों में महाणंदि (१००० ई० से १४०० ई० के बीच) का 'आनन्दा' तथा महचन्द (१६०२ के लगभग) का 'दोहा पाहुड' आदि प्रधान हैं। इन दोनो का विषय भी प्रायः वही है।

इस धारा मे और भी बहुत-सा साहित्य होगा पर आज या तो वह नष्ट हो गया है या भंडारो मे पडा है। इस धारा की प्रधान विशेषताएँ साम्प्रदायिक साहित्य होते हुए भी अन्य सम्प्रदायो के प्रति उदारता, मन्दिर, मूर्ति तथा तीर्थ-सम्बन्धी रूढ़ियो और परम्पराओ का विरोध तथा चारित्रिक शुद्धता पर जोर आदि हैं।

मुक्तक काव्य की दूसरी उपशाखा 'उपदेशात्मक धारा' की है। इसके प्रधान कवि और उनकी रचनाएँ निम्न है—

देवसेन—इनका ग्रन्थ 'सावयधम्म दोहा' इस धारा की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। आरम्भ मे 'गुरु-वन्दना' तथा 'दुर्जन-स्मरण' आदि भूमिका के बाद श्रावक-धर्म के ११ भेदो का विवेचन है। इसमे प्रवृत्ति-मार्ग द्वारा धर्म का पालन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति सम्भव मानी गई है। देवसेन का समय संवत् ६६० के आस-पास है।

जिनदत्त सूरि—इनके तीन ग्रन्थ 'चर्चरी', 'उपदेश रसायन' और 'कालस्वरूप कुलक' है। प्रथम का सम्बन्ध गुरु-प्रशंसा आदि से, दूसरे का मनुष्य-जन्म, आत्मोद्धार से तथा कुछ लौकिक-पारलौकिक शिक्षाओ से एवं तीसरी का गुरु-महिमा तथा कुटुम्ब-संगठन से है। इन्होने परलोक पर विशेष ध्यान न देकर लोक पर दिया है। कवि का समय संवत् ११३२ से १२१० तक है।

महेश्वर सूरि— इन्होने एक छोटी-सी रचना 'संयम-मञ्जरी' लिखी है, जिसमे संयम को सर्वोत्तम साधन बतलाया है। इसमे साहित्यिकता कम है। इनका समय संवत् १५६१ के पहले होना चाहिए।

इस धारा की अन्य प्रधान रचनाएँ जयदेव मुनि (संवत् १०५४ के आस-पास) की 'भावना-सन्धि-प्रकरण' तथा विनयचन्द्र मुनि की 'कल्याणकरासु' एवं 'चूनडी' आदि है।

इस धारा की विशेषताएँ नीतिपूर्ण उपदेश, कुटुम्ब का ध्यान तथा संसार मे रहते हुए निर्लिप्तता आदि हैं।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य मे प्रबन्धात्मक रचनाओ का भी अभाव नही है। इनका प्रधान स्वर तो धार्मिक है पर साहित्यिक छटा भी इनमे कम नही है। इस धारा के प्रमुख कवि ये है—

स्वयंभू—इनके अभी तक तीन ग्रन्थ मिले हैं—'पउम चरिउ', 'रिट्ठणेमि चरिउ' और 'स्वयंभू छन्द'। 'पउम-चरिउ' मे राम की कथा है। उसमे ५ काण्ड है। आरम्भ मे गुरु की प्रार्थना आदि के बाद कथा आरम्भ होती है। इसमे सभी पात्र जिन-भक्त हैं। दूसरी कृति का सम्बन्ध 'हरिवंश' तथा 'महाभारत' की कथा से है। तीसरी कृति छन्दो पर है। इनका समय ८०० और ६०० ई० के बीच मे है।

पुष्पदन्त—इनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'महापुराण' है। इसमे चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेवो की कथाएँ हैं। 'महापुराण' की भाषा और साहित्यिकता

बडी सुन्दर है। कवि की दूसरी कृति 'णायकुमार चरिउ' मे मगधराज जलंधर-पुत्र की कथा है। तीसरी कृति 'जसहर चरित्र' का सम्बन्ध यशोधरा से है। इसमे काव्यात्मकता कम है। पुष्पदन्त के वर्णन बडे सजीव हैं। इनका समय संवत् १०४४ से कुछ पूर्व है।

पद्मकीर्ति—इनकी प्रसिद्ध रचना 'पासचरिउ' है, जिसमे पार्श्वनाथ का पूरा चरित्र वर्णित है। इनका समय सवत् ६६२ के आस-पास है।

धवल—धवल की विशाल कृति 'रिट्ठणेमिचरिउ' है। कवि का समय १०वी या ११वी सदी ई० ज्ञात होता है।

धनवाल—इनकी कृति 'भविदत्त कहा' है। इसमे सज्जन-दुर्जन-स्मरण तथा श्रुतपंचमी-फल की व्याख्या करते हुए कथा आरम्भ की गई है। यह एक साहसी किन्तु धार्मिक वनिए की प्रेम-कथा है। इसमे धार्मिक पात्रो का उत्तरोत्तर अभ्युदय दिखाया गया है। कवि के बारे मे कुछ विशेष ज्ञात नही है। याकोबी का मत है इसका समय १०वी सदी ई० होना चाहिए।

हरिषेण—इसकी कृति 'धर्म-परीक्षा' ब्राह्मण-धर्म पर एक व्यंग्य है। पुराणो की कथाओ पर इसमे प्रहार किया गया है। इसमे विविध छन्दो का प्रयोग हुआ है। कवि का समय वि० स० १०४० के आस-पास है।

वीरकवि—जैन-सम्प्रदाय के अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के जीवन को लेकर इन्होने 'जम्बू स्वामी चरित' लिखा है। इनका समय सं० १०७६ वि० के आस-पास है।

नयनन्द—इन्होने 'सुदर्शन-चरित' मे पच नमस्कार फल के दृष्टान्त रूप मे सुदर्शन की कथा प्रस्तुत की है। इसके कथानक मे कसाव नहीं है। इनकी दूसरी कृति 'सकल विधि विधान' काव्य है। नयनन्द का समय ११०० वि० के लगभग है।

इस धारा के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ—कनकाभर (१०५० वि० के लगभग) का 'करकंडुचरिउ', धाहिल (स० ११६१ से पूर्व) का 'पंउमसिरचरिउ', श्रीचन्द (११-१२ सदी) के 'कथाकोश' तथा 'रत्नकरण्डशास्त्र', देवसेनगणि (१२वी या १४वी सदी वि०) की 'सुलोचना चरित', हरिभद्र (स० १२१६ के आस-पास) का 'सनत्कुमार चरित', लक्खण (सं० १३१३ के लगभग) का 'अणुवयर यणपईउ', लक्खमदेव (सं० १५१० के आस पास) का 'नेमिनाथ चरित', रयूध (१५ वी सदी के आस-पास) के 'आदि पुराण', 'यशोधरचरित' तथा 'सिद्ध चक्रचरित' आदि २३ ग्रन्थ, जयमित्रहल (स० १५४५ के पूर्व) का 'वर्द्धमान चरित्र' तथा हरिदेव (सं० १५७६ के पूर्व) का 'मदन पराजय' आदि हैं।

संक्षेप मे, जैन-अपभ्रंश-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा अपभ्रंश-साहित्य की बाह्य और आन्तरिक सभी प्रकार की विशेषताएँ इसमे हैं। इसके विशेषतः कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धर्म-प्रधान काव्य होते हुए भी चरित्रो को अतिमानवीय रूप कहीं भी नहीं प्रदान किया गया है। शुभ कर्म करने वालो को शुभ फल मिलता है। यही इनका सबसे बड़ा संदेश है। इनका जगत् और जीवन के प्रति बड़ा स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण है। [illegible] परलोक से इस लोक का ध्यान नही है।

रूप की दृष्टि से इन प्रबन्ध-काव्यो मे खण्ड और महाकाव्य दोनो हैं। कड़वक-बद्ध शैली [illegible] प्रयोग किया गया है। अलंकार की दृष्टि से परम्परा अपनाने के अतिरिक्त इन्होंने [illegible] [illegible] से नये उपमान भी [illegible] हैं। समकालीन इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से भी

कुछ कृतियाँ बडी महत्त्वपूर्ण है ।

धार्मिक अपभ्रंश : बौद्ध-सिद्धों की अपभ्रंश-रचनाएँ

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा की परिणति वज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान, सहजयान तन्त्रयान आदि के रूप मे हुई । आचार्यो ने इनके सिद्धान्तो के विवेचन के लिए अपभ्रंश को ही माध्यम बनाया । इनके प्राप्त ग्रन्थो का विद्वानो ने बडे उत्साह के साथ अध्ययन किया है । हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से सिद्धो की रचनाओ को प्रकाशित कराया है । डॉ० चटर्जी ने इनकी भाषा पर विचार किया है । डॉ०शहीदुल्ला, डॉ० बागची और सुकुमार-सेन ने भी इस पर कार्य किया है और पुस्तके भी लिखी हैं ।

सिद्धो की इन रचनाओ मे दो प्रकार की भाव-धारा मिलती है । एक तो सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के विवेचन की तथा दूसरी उपदेश और खण्डन-मण्डन की । वज्रयान का प्रमुख तत्त्व शून्यवाद है । उनकी दूसरी विशेषता सर्ववाद की भावना है । बाद मे इनमे और भी आचार आ गए, जिनमे पंच मकार (मत्स्य, मास, मद्य, मुद्र और मैथुन) प्रधान हैं ।

अब तक इनका जितना साहित्य मिला है । कान्हूपाद, भुसुकपाद तथा सरकपाद आदि २३ सिद्धो की रचनाएँ है । यो इनकी संख्या ८४ बताई गई है । सभी रचनाओ मे प्रायः मिलती-जुलती बाते व्यक्त की गई है । अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अन्तर्गत रहने वाले सहजानन्द की प्राप्ति इनका परम लक्ष्य है । अन्य मार्गों को टेढ़ा बतलाकर सहज मार्ग को सीधा कहा गया है । कुछ ने गुरु की आवश्यकता पर भी जोर दिया है ।

सिद्धो के छन्दो मे विविधता नही है । 'चर्यागीत' मे गेय पद हैं । 'दोहा-कोष' मे प्रधान छन्द दोहा है । कुछ सोरठे तथा और छन्द भी है । सिद्धो की भाषा के दो रूप है । एक तो पूर्वी अपभ्रंश, जिसमे पार्श्व भी अपभ्रंश के रूप हैं और दूसरा शौरसेनी अपभ्रंश । इनका समय सन् ८०० से १००० तक ज्ञात होता है ।

तन्त्र-शास्त्र से सम्बन्धित दूसरी अपभ्रंश-कृति 'डाकार्णव तन्त्र' है । इसमे वज्रयान के सिद्धान्तो का विवेचन है । इसमे गुरु का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है । भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित पूर्वी से प्रभावित अपभ्रंश है । इसमे चौपाई आदि प्रमुख छन्द है । इनका रचना-काल ११ वीं सदी ई० के आस-पास है ।

धार्मिक अपभ्रंश : शैवों की अपभ्रंश-रचनाएँ

कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय की भी कुछ रचनाएँ अंशतः अपभ्रंश मे मिलती हैं । अभिनव गुप्त के 'तन्त्र सार' का इनमे प्रमुख स्थान है । इसमे शैव-मत की व्याख्या है । इसमे व्यक्ति ही परम शिव माना गया है । वह अशुद्धि के कारण अपने-आपको नही देख पाता । 'तन्त्र सार' के प्रत्येक अध्याय के अन्त मे प्राकृत अपभ्रंश मे पूरे अध्याय का सार दिया गया है । यो यह ग्रन्थ संस्कृत मे हैं । इसका रचना-काल १०१४ ई० के आस-पास है ।

दूसरी उल्लेख्य कृति भट्ट वामदेव महेश्वराचार्य की 'जन्म-मरण-विचार' है । इसमे परम शिव की शक्ति और उनके प्रसार का विवेचन है । इसमे एक दोहा अपभ्रंश मे है । इसका रचना-काल ११ वी शती ई० का अन्तिम भाग ज्ञात होता है ।

गोरखनाथ के 'अमरौघशासन' मे भी एक अपभ्रंश-पद्य मिलता है । कश्मीरी भाषा का

सबसे प्राचीन नमूना लल्ला के 'लल्ला वाक्यानि' में मिलता है। इसे लिखित रूप पीछे दिया गया, अतः भाषा की प्राचीनता अब ज्यों-की-त्यों नहीं मिल सकती। शिति कण्ठाचार्य की कृति 'महानय प्रकाश' में ९४ अपभ्रंश-पद्य हैं। इसका रचना-काल १५ वीं सदी ई० उत्तरार्द्ध है।

शैव-सम्प्रदाय की इन रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव है। केवल भाषा की दृष्टि से इनका महत्त्व है। साथ ही इनकी भाव-धारा भी महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुगीन साधकों की भाव-धारा की पृष्ठभूमि उन्हींकी सहायता से स्पष्ट हो सकती है।

ऐहिकतापरक अपभ्रंश-साहित्य

इस श्रेणी का साहित्य दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग में तो वे पद्य आते हैं, जो अलंकार, छन्द या व्याकरण आदि के ग्रन्थों में उद्धृत हुए मिलते हैं। इनमें साहित्यिक सौन्दर्य बहुत अधिक है। दूसरे वर्ग में प्रबन्धात्मक कृतियाँ रखी जा सकती हैं।

प्रथम वर्ग के लिए कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक के अपभ्रंश-पद्य, जिनमें प्रकृति-वर्णन आदि बड़े सुन्दर और सजीव हैं। चण्ड के 'प्राकृत लक्षण' के दो दोहे, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में प्राप्त एक दोहा, भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के १८ अपभ्रंश पद्य। हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश व्याकरण' में उद्धृत नीति, शृङ्गार, प्रेम तथा नायक-नायिकाओं के रूप-वर्णन आदि अनेक विषयों के छन्द, प्राकृत पिंगल के कुछ पद्य तथा पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में प्राप्त छन्द देखे जा सकते हैं। ये मुक्तक छन्द संख्या में अधिक नहीं हैं पर शृङ्गार, प्रेम, वैराग्य, नीति, शक्ति आदि की विविधता एवं आलंकारिक छटा में ये अपूर्व हैं। यही मुक्तक धारा रीति-काल तक आई और आध्यात्मिक स्वर मन्द हो जाने पर केवल शृङ्गारपूर्ण रह गई।

दूसरे वर्ग—प्रबन्धात्मक कृतियों—में आज केवल दो-तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। 'सन्देश रासक' 'मेघदूत' की तरह २२३ पद्यों में समाप्त एक सन्देश-काव्य है। विजयपुर की एक विरहिणी नायिका एक पथिक द्वारा अपना सन्देश भेजती है। इसमें ऋतु-वर्णन आदि बड़ा सुन्दर है। विरहिणी के भावों का भी चित्रण बड़ा आकर्षक हुआ है। इसकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। इसका रचयिता अब्दुल रहमान था। इसकी रचना सं० १४६५ के पूर्व की गई होगी। विद्यापति की 'कीर्तिलता' एक ऐतिहासिक चरित-काव्य है। इसमें कीर्तिसिंह के यश तथा वीरता, और विजय तथा प्रतिशोध आदि का वर्णन है। 'कीर्तिलता' में काव्य-वैभव बहुत कम है। इसकी भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। विद्यापति का समय ई० १४वीं १५वीं सदी है। इनकी दूसरी पुस्तक 'कीर्ति पताका' में भी कुछ अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं।

हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

काव्य-रूपों पर प्रभाव

पीछे के अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि अपभ्रंश-काव्यों की रचना [illegible] रूप में हिन्दी के [illegible] काव्य-धाराएँ धीरे-धीरे [illegible] हिन्दी के [illegible] प्राचीन साहित्य के [illegible] हुआ। [illegible]

प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य-रूप संक्षेप में इस प्रकार थे—

प्राकृत

(१) प्रबन्ध काव्य

(१) साहित्यिक महाकाव्य—सेतुबन्धादि

(२) जैनों के धार्मिक प्रबन्ध-काव्य—महावीर चरित आदि

(३) गद्य-पद्य-मिश्रित कथा कृतियाँ—वसुदेव हिण्डी आदि

(२) मुक्तक

(१) गाथा सप्तशती आदि मुक्तक

(२) अन्य कृतियों में उद्धृत छन्द

(३) रूपकों में प्रयुक्त पद्य तथा सट्टक रचनाएँ

अपभ्रंश

(१) प्रबन्धात्मक काव्य

(अ) विशाल चरित-काव्य—महापुराण आदि

खण्ड काव्य— (क) कल्पना-प्रधान—सन्देश रासक आदि

(ख) ऐतिहासिक—कीर्तिलता

(ग) व्रतादि की पद्यबद्ध कथाएँ

(२) मुक्तक (१) दोहाबद्ध उपदेश-प्रधान धारा

(२) दोहाबद्ध शृङ्गार-प्रधान धारा

(३) पद-शैली के गीति

अपभ्रंश के विविध काव्य-रूपों में कुछ का सम्बन्ध सीधा जनता से था। समयानुसार उन्हींके लिए परिवर्तित भाषा का प्रयोग होने लगा। यह परिवर्तित भाषा ही हिन्दी थी। भाव-धारा के लिए बहुत-से लोगों ने संस्कृत की ओर देखा, पर बाह्य रूपों के लिए वे अपभ्रंश की ओर ही झुके।

उत्तर मध्यकालीन तक के हिन्दी-काव्य-रूपों की प्रधान धाराएँ इस प्रकार हैं—

(क) प्रबन्धात्मक रूप

(१) चारण काव्य—रासो ग्रन्थ तथा राजाओं के चरित-काव्य

(२) धार्मिक साहित्यिक चरित काव्य—रामचरित मानस आदि
धार्मिक साहित्यिक शिथिल प्रबन्धात्मक काव्य—सूरसागर आदि

(३) आध्यात्मिक झलक की प्रेम-गाथाएँ—पद्मावत आदि

(४) ऐहिकतामूलक प्रेम-कथाएँ—ढोला मारू का दूहा आदि

(५) साहित्यिक प्रबन्ध-काव्य—रामचन्द्रिका आदि

(ख) मुक्तक रूप

(१) विषय-प्रधान मुक्तक पद-शैली—गोरख, कबीर आदि के पद
विषय-प्रधान मुक्तक दोहा-शैली—बिहारी आदिक दोहे
विषय-प्रधान मुक्त विविध छन्दबद्ध काव्य—सवैया आदि

(२) उपदेश, नीति, शृङ्गार, सुभाषित आदि—रहीम, मतिराम आदि के दोहे

(३) गीति-काव्य—विद्यापति, सूर, मीरा आदि के पद

अपभ्रंश मे दृश्य-काव्य नही था, अतः मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य मे भी यह धारा नही मिलती।

चारण-साहित्य की परम्परा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे देवताओ की स्तुतियो तक ले जाई जा सकती है। एक देव और ईश्वर का यश गाते थे तो दूसरे वीरो का। हिन्दी-चारण-साहित्य के पिंगल और डिंगल भाषा मे लिखे होने से दो रूप हो जाते है। पिगल रचनाओ की फिर दो उपशाखाएँ (१. अजैन और २. जैन) की जा सकती है।

अजैन के भी स्वाभाविक और साहित्यिकता से लदे हुए दो भेद किये जा सकते हैं। पहले का सुन्दर उदाहरण 'बीसलदेव रासो' तथा दूसरे के 'पृथ्वीराज रासो', 'वीरसिंह देव चरित', 'जंगनामा' तथा 'शत्रुमरासा' आदि है। ये सभी ऐतिहासिक पुरुषो के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। सभी का रूप भी प्रायः एक है।

जैन-रचनाओ मे रास नाम से बहुत-सी रचनाएँ ब्रज मे मिलती है। धर्म सूरि की 'जम्बूस्वामी रास', श्वेताम्बर साधु की 'गोतम रासा' तथा पृथ्वीपाल की 'श्रुतपंचमी रास' आदि उदाहरण के लिए ली जा सकती है। इन सबमे एक अपूर्व समानता है। अपभ्रंश मे पाए जाने वाले जैन-काव्यो से ये सभी मिलते-जुलते हैं। इनमें चौपाई, दोहा तथा छप्पय आदि के अतिरिक्त लोक-प्रचलित गेय पदो का प्रयोग हुआ है यह प्रवृत्ति भी प्राकृत तथा अपभ्रंश के भी इस श्रेणी के काव्यो में मिलती है। 'बीसलदेव रासो' भी इसी परम्परा मे आता है। अन्य 'पृथ्वीराज रासो' आदि ग्रन्थ उसी परम्परा के कृत्रिम साहित्यिक रूप हैं।

डिगल मे रचित इस प्रकार के काव्य 'छन्दराउ जलसीरउ', 'वचनिका रतन सिंघरी' तथा 'राणा रासो' आदि है। ये भी रूप तथा विषय आदि मे उपर्युक्त ग्रन्थो के समान ही है। गुजराती रास भी भाव-धारा आदि मे इसी प्रकार है। इस तरह क्या गुजराती, क्या हिन्दी सभी अपभ्रंश और प्राकृत की अनुरूप धारा की ही परम्परा मे है।

रास या रासो नामक काव्य-रूप का प्रथम स्पष्ट उल्लेख बाण (८वी शती वि०) ने 'हर्षचरित' मे किया है। वहाँ इसका अर्थ मंडलाकार नृत्य तथा अश्लील पद है। उद्योतन सूरि ने भी 'कुवलय माला कथा' मे प्रायः इसी अर्थ मे इसका प्रयोग किया है। आगे चलकर इसका अर्थ जन-मन को आनन्द देने वाला हो गया। जैन-कवियो द्वारा रचित रास धर्म के समीप होने से ऐहिकता से कुछ अलग होते भी पर्याप्त सरस है। इसका आरम्भ मे मूल आधार लोक-प्रचलित रास या नृत्य रहा होगा। अपभ्रंश मे कुछ रास-कृतियो के तो केवल नाम मिलते हैं पर दो—'उपदेश-रसायन रास' तथा 'सन्देश रासक' उपलब्ध भी है। प्रथम कृति तो गुरु-निन्दा या स्तुति आदि से सम्बन्धित है, पर दूसरी 'बीसलदेव रासो' की भाँति एक वियुक्ता नायिका का सन्देश है। आगे यही हिन्दी तथा गुजराती आदि मे शृङ्गारपूर्ण जीवन-चरित्र या वीर और शृङ्गार से मिश्रित हो गया।

प्रेमाख्यानक-काव्यो के दो वर्ग किये जा सकते है। एक वर्ग तो उन रचनाओ का है, जिनमे प्रेमाख्यान के साथ जीवन के गम्भीर पक्ष की ओर ध्यान है और आध्यात्मिकता का भी पुट है। दूसरे वर्ग मे प्रेम की परीक्षा कराते हुए प्रेमी-प्रेमिका का संयोग-मात्र है पहले वर्ग में 'पद्मावती', 'मृगावती', 'मधुमालती' तथा 'पुहुपावती' आदि है। दूसरे वर्ग मे चतुर्भुजदास निगम कायस्थ की

'मधुमालती' गरणपति की 'कामकन्दला' तथा 'ढोलामारु' आदि हैं। 'ऊषा-अनिरुद्ध' आदि पौराणिक प्रेमाख्यान भी इसीमे आते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाएँ प्रेम-कथाएँ तो है ही, साथ ही अध्यात्म भी उनके साथ हैं; पर दूसरी कोरी ऐहिकतामूलक हैं और प्राकृत-अपभ्रंश के इस प्रकार के काव्यो की परम्परा मे है। जैन-लेखको की 'वसुदेव हिण्डी' आदि इसी प्रकार की हैं। वहाँ इन्हे धर्म का पतला आवरण अवश्य पहनाया गया है। जैनेतर पद्यबद्ध कथा-ग्रन्थ अभी तक नहीं मिले हैं, पर जैन-कृतियो के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी-प्रेमाख्यानको की दोहा-चौपाई-शैली का पूर्ववर्ती रूप अपभ्रंश मे रहा होगा।

अपभ्रंश-चरित-काव्यो का जैसा बाह्य रूप मिलता है वही 'रामचरित मानस' आदि का भी है। अपभ्रंश मे स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' भी राम-कथा है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' मे भी यह कथा है। नहीं कहा जा सकता कि तुलसी को इन रचनाओ का पता था या नहीं। स्वयम्भू ने राम-कथा को नदी की समता दी है, विनय के साथ अपनी अयोग्यता प्रकट की है, सज्जनो-दुर्जनो के बारे मे लिखा है और तुलसी ने उसे सरोवर कहा है तथा और बाते प्रायः स्वयम्भू की भाँति लिखी हैं। तुलसी के मानस की छन्दो की रूप-रेखा अपभ्रंश के चरित-काव्यो के समान है।

हिन्दी मे विशुद्ध महाकाव्य लिखने का प्रयास 'रामचन्द्रिका' मे है। नयनन्दि का 'सुदर्शन-चरिउ' तथा लालू का 'जिनदत्त चरिउ' भी प्रायः ऐसे ही हैं। 'रामचन्द्रिका' की छन्द-विविधता इन दोनो मे मिलती है।

सूर के 'सूरसागर' का भी हल्का सूत्र मिलता है। बौद्ध-सिद्धो के गानो का यही रूप है। वे भी रागबद्ध है। हाँ, उनमे कथा अवश्य नहीं है। सम्भव है कोई वैसी भी कृति रही हो, जो आज उपलब्ध नहीं है।

मुक्तक पद गोरख, विद्यापति, कबीर, तुलसी, मीरा, आदि मे है। सिद्धो के गीतो मे और इनमे इतना ही अन्तर है कि उनमे गीति-तत्त्व कम और विषय का विवेचन अधिक है। गोरख और कबीर के नाद, बिन्दु, रवि, शशि तो 'दोहा-कोष' से ही हैं। इनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी स्पष्टतः वही से आती दिखाई पडती है।

हिन्दी मे दोहो का प्रयोग शृङ्गार, नीति, मत-विवेचन आदि मे भी बहुत हुआ है। सन्त तुलसी, बिहारी आदि इसके प्रमाण है। प्राकृत के 'गाथा सप्तशती' और 'वज्जालग्ग' इन्ही विषयो के संग्रह है। 'गाथा सप्तशती' और बिहारी मे तो भावसाम्य भी खूब है। सन्तो की साखियो का रूप योगीन्द्र तथा रामसिह आदि के छन्दो मे मिलता है।

सवैया-कवित्त की धारा प्राचीन अपभ्रंश-साहित्य मे नहीं मिलती। सम्भव है भविष्य मे अपभ्रंश का विस्तृत अध्ययन इस कमी को पूरा कर दे।

रचना-शैली और छन्दो का प्रभाव

प्राकृत और अपभ्रंश की रचना-शैलियो मे अन्तर है। साहित्यिक के प्राकृत की कुछ कृतियो मे संस्कृत-काव्यो की शैली का अनुकरण किया गया है, जैसे 'सेतुबन्ध' मे। किन्तु 'गौडव्य'-जैसी कृतियो मे मौलिकता भी मिलती है। हिन्दी की कुछ काव्य-धाराओ की रचना-शैली और जैन-अपभ्रंश के चरित-काव्यो मे रचना-शैली मे कुछ-कुछ साम्य आरम्भ मे वन्दना, सज्जन-दुर्जन स्मरण तथा विनम्रता आदि—मिलता है। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' तथा तुलसी के 'मानस' या जायसी के 'पद्मावत' मे यह समानताएँ देखी जा सकती है। जायसी ने देशादि तथा ऋतुओ के जो

वर्णन किये है वे भी अपभ्रंश के चरित-काव्यो मे हैं। जायसी का वियोग-वर्णन 'सन्देशरासक' के वियोग-वर्णन के बहुत समीप है।

हिन्दी-काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव अपभ्रंश-छन्दो का पड़ा है। प्राकृत-अपभ्रंश मे विशेष रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुए है, पर साथ ही वर्ण-वृत्तो के भी कुछ सफल प्रयोग है। प्राकृत के प्रिय छन्द गाथा तथा उसके अनेक भेद है। अपभ्रंश के चरित या आख्यान-काव्यो मे कडवक बद्ध छन्द प्रयुक्त हुए है। कुछ अपवाद भी अवश्य मिलते है। कुछ ने केशव की भाँति अनेक छन्दो के भी प्रयोग किये है। अपभ्रंश मे पुराने छन्दो को मिलाकर नवीन छन्द बनाने की भी प्रवृत्ति है। छप्पय, वस्तुरड्डा तथा कुण्डलिया आदि इसी प्रकार के छन्द है। अपभ्रंश की एक प्रवृत्ति यह भी है कि कवियो ने चतुष्पदी तथा षट्पदी के द्विपदी की भाँति प्रयोग किये हैं। कुछ संस्कृत के छन्द भी नवीन विशेषताओ के साथ प्रयुक्त हुए है। अपभ्रंश मे गेय छन्द भी हैं। हिन्दी मे अपभ्रंश-छन्दो की सभी विशेषताएँ मिल जाती है। यहाँ भी चरितकाव्यों 'पद्मावत' तथा 'मानस' आदि मे अपभ्रंश की भाँति कडवक शैली का प्रयोग मिलता है। 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'सुजान-चरित' आदि मे प्राकृत छन्द 'गाहा' के प्रयोग मिलते है। यह छन्द 'सन्देशरासक' आदि अपभ्रंश ग्रन्थो मे भी प्रयुक्त हुआ है।

समद्विपदी के अपभ्रंश मे पुष्पदन्त आदि ने सुन्दर प्रयोग किये है। हिन्दी मे सूदन ने इसका प्रयोग किया है। २८ मात्रा की द्विपदी के उल्लाला, धत्ता आदि प्रमुख भेद है। उल्लाला का हिन्दी मे बहुत प्रयोग हुआ है। सम चतुष्पदी छन्दों में मधुभार, विजोहा, दीपक, चौपाई, आभीर, मालती, विज्जुमाला, अरिल्ल, पादाकुलक तथा हरीदुरद आदि छन्दो का अपभ्रंश मे प्रयोग हुआ है। इनमे कइयो का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो', 'सुजान-चरित', 'हम्मीर रासो' आदि कृतियो मे मिलता है। कुछ अपभ्रंश-छन्दो के नाम बदलने की प्रवृत्ति हिन्दी मे रही है। अपभ्रंश मे भी कुछ प्राकृत छन्दो के नाम परिवर्तित मिलते है। अर्द्ध सम चतुष्पदी छन्दो मे दोहा, सोरठा तथा हरिपद आदि है। दोहा अपभ्रंश का प्रिय और प्राचीन छन्द है। 'कीर्तिलता', 'सन्देश रासक' तथा अन्य बहुत-सी स्फुट रचनाओ मे दोहे का प्रयोग हुआ है। हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यो तथा मुक्तक (नीति तथा शृङ्गार आदि) मे दोहे का अपना विशिष्ट स्थान है। सोरठे का प्रयोग अपभ्रंश की 'परमात्म प्रकाश' आदि कृतियो मे मिलता है। हिन्दी मे भी भक्ति और रीतिकाल मे इसके प्रयोग हुए है। हरिपद प्रचलित न होने पर भी अपभ्रंश और हिन्दी दोनो मे प्रयुक्त हुआ है। मिश्र छन्दो मे प्रधानता छप्पय तथा कुण्डलिया को दी जा सकती है। कुण्डलिया प्राचीन अपभ्रंश-ग्रन्थो मे प्रयुक्त नही है, पर 'छन्दकोश' आदि मे इसके उदाहरण मिलते हैं। छप्पय का प्रयोग कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश-अंश मे मिलता है। कहना न होगा कि हिन्दी मे ये दोनो पर्याप्त प्रचलित छन्द रहे हैं।

वर्णवृत्तो का प्रयोग अपभ्रंश के चरित-काव्यो मे विशेष रूप मे मिलता है। फिर भी पूरे अपभ्रंश-साहित्य को देखने पर मात्रिको की तुलना मे इनकी संख्या अत्यन्त न्यून है। हिन्दी मे भी आधुनिक प्रयोगो को छोड दिया जाय तो रासो-ग्रन्थ तथा 'रामचन्द्रिका' आदि कुछ ग्रन्थो मे ही वर्ण वृत्तो की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। मानस मे केवल ३ या ४ ही वर्णवृत्त मिलते है। अधिक विस्तार मे न जाकर कुछ हिन्दी-छन्दो के नाम दिये जा सकते हैं, जो प्राकृत विशेषतः अपभ्रंश की परम्परा से आए है—चौपाई, पादाकुलक, दोहा, सार, ताटंक, रूपमाला तथा सोरठा, भुजंगप्रयात, सवैया, छप्पय, वीर, रोला, गीतिका, तथा मनहरण आदि।

हिन्दी के पदों का यही रूप अपभ्रंशादि में नहीं मिलता। अपभ्रंश में दो छन्दों के मेल से निर्मित मिश्रबन्ध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही अपभ्रंश में कडवकों के पश्चात् लघु रचनाओं को गाते समय ध्रुवक को दुहराने की पद्धति रही होगी। इन्हीं तत्त्वों का विकसित या मिश्रित रूप पद ज्ञात होता है। पद रागों के अनुसार विभक्त होते हैं। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इससे मिलती-जुलती परम्परा अपभ्रंश में भी रही है। अलंकारों के क्षेत्र में प्राकृत-अपभ्रंश-कवियों ने परम्परा से प्राप्त अप्रस्तुत विधान को तो अपनाया ही, साथ ही अपने चारोंओर के जीवन सेन वीन सामग्री भी ली। यह प्रवृत्ति हिन्दी-कवियों में भी रही है। कबीर के जुलाहे आदि के रूपक इसी प्रकार की नवीनताओं की श्रेणी में आते हैं। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की विशेष प्रवृत्ति सर्वप्रथम अपभ्रंश में मिलती है। भौंरों की गुञ्जार, संगीत की ध्वनि तथा वर्षा-वर्णन के लिए प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में भी युद्ध, वायु, वर्षा आदि के वर्णनों में इन शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलता है।

कथानकों का प्रभाव

मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त कथानकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है, एक तो पौराणिक (जैसे राम, कृष्ण आदि) और दूसरा लोक-प्रचलित (जैसे सूफी कवियों की पद्मावती, मृगावती आदि)। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही दो प्रधान भेद मिलते हैं। जहाँ तक हिन्दी में इन कथानकों को लेने का प्रश्न है पौराणिक कथानक तो विशेष रूप से प्राकृत-अपभ्रंश से न लिये जाकर संस्कृत से लिये गए है, पर लोक-कथानक अवश्य अपभ्रंश से विशेष रूप से प्रभावित है। सूफी-काव्यों में सिंहल द्वीप की सुन्दरियों का वर्णन आया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश में 'भविष्यदत्त कथा', 'करकण्डुचरिउ', 'जिनदत्त चरित', 'रत्नशेखर नरपति कथा' तथा 'श्रीपाल-चरित' आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख आए है। जायसी के जोगी-खंड का जोगी-वर्णन भी बहुत अंशों में 'जसहरचरिउ' तथा शैलाचार्यों के वर्णनों से मिलता-जुलता है। कृष्ण-काव्य की राधा को पढ़कर कभी-कभी 'गाथा सप्तशती' के कुछ छन्द याद आ जाते हैं। कृष्ण के भी कुछ चित्र पुष्पदन्त आदि में मिल जाते है। हिन्दी की जैन-काव्य-धारा के कथानक तो अधिकांशतः प्राकृत तथा अपभ्रंश जैन-काव्य के कथानकों से प्रभावित हैं। इस प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश-कथानकों का हिन्दी के कथानकों पर पर्याप्त प्रभाव है।

इन समानताओं के अतिरिक्त भाव-धारा की समानताएँ भी कुछ हिन्दी तथा अपभ्रंश-साहित्य में मिल जाती है। जैन, बौद्ध तथा शैव-साधकों का स्वर बाद में नाथ-पंथ तथा सन्तों में दिखाई पड़ता है। ये सभी जप, तप, पूजा, अर्चना, तीर्थ, वर्ण, अवतार तथा शास्त्र के विरोधी थे। विद्वानों का कहना है कि वैदिक युग से ही इस प्रकार के विरोधी लोग यहाँ थे और वही परम्परा अब तक किसी-न-किसी रूप में आ रही है। 'गुरु' के विषय में भी हिन्दी-साहित्य प्राकृत-अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है। बिहारी आदि की शृङ्गार-धारा के भाव भी 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग' तथा हेमचन्द्र में मिल जाते हैं। इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य बाह्य और आन्तरिक सभी रूपों में प्राकृत, विशेषतः अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है।[1]

१. लेखक के डी० फिल० के अप्रकाशित थीसिस का संक्षिप्त रूप, श्री भोलानाथ तिवारी द्वारा प्रस्तुत।

अनुशीलन

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र

हिन्दी मे इस समय काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ दो प्रकार के है। एक तो रीतिकालीन आचार्यों के ग्रन्थ, जैसे केशवदास-कृत 'कविप्रिया', भिखारीदास-कृत 'काव्य-निर्णय' आदि तथा दूसरे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के आधार पर लिखे गए आधुनिक ग्रन्थ, जैसे बा० श्यामसुन्दरदास-कृत 'साहित्यालोचन'। प्रश्न यह है कि क्या इन दो श्रेणियो के ग्रन्थो मे से किन्ही को भी हम हिन्दी काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ मान सकते है।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थो के परिभाषा के भाग प्रायः इस विषय के संस्कृत-ग्रन्थो के इन अशो के स्वतन्त्र अनुवाद है अथवा उन्हे आदर्शस्वरूप सामने रखकर लिखे गए है। उदाहरण के अशो मे भी हिन्दी के प्रसिद्ध पूर्ववर्ती भक्तिकालीन कवि—जैसे तुलसीदास, सूरदास आदि के ग्रन्थो से उपयुक्त उद्धरण संकलित करने का प्रयास नही किया गया बल्कि कल्पित उदाहरण गढ कर दिये गए है। कही-कही संस्कृत उदाहरणो का ही छायानुवाद दे दिया गया है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य-शास्त्र अथवा समालोचना-शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य अंग्रेजी के चार-छः चुने हुए ग्रन्थो का सार है, न इस विषय के संस्कृत अथवा रीतिकालीन साहित्य से ही इसका सम्बन्ध है और न वास्तविक हिन्दी ललित-साहित्य से ही। उदाहरण के लिए इन हिन्दी-ग्रन्थो मे नाट्यकला सम्बन्धी अध्याय मे हडसन अथवा इसी श्रेणी के किसी अंग्रेजी लेखक के विचारो का अनुवाद अथवा भावार्थ मिल जायगा। हिन्दी-लेखक न इस रूप के सिद्धान्तो का परिचय देने का यत्न करेगा और न हिन्दी नाटको के आधार पर किन्ही मौलिक सिद्धान्तो के निर्माण का ही यत्न करेगा।

इस प्रकार हम उपर्युक्त दोनो श्रेणियो के ग्रन्थो को हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र अथवा आलोचना-शास्त्र नही मान सकते। इसका निर्माण अभी होना है। इस टिप्पणी मे मै इसी ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्रश्न यह किया जा सकता है कि हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र कैसे निर्मित हो। उत्तर सीधा है। इसका निर्माण हिन्दी-साहित्य के आधार पर होना चाहिए। उदाहरण के लिए सूरदास अथवा तुलसीदास आदि के ग्रन्थो मे प्रयुक्त समस्त अलंकारो के वास्तविक संकलन तथा विश्लेषण के आधार पर हिन्दी-अलंकार-शास्त्र की नींव डाली जा सकती है। इस सम्बन्ध मे यह विशेष ध्यान रखना आवश्यक होगा कि

'सूरसागर' अथवा 'मानस' के अलंकारों को संस्कृत अथवा रीतिकालीन अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों मे पाई जाने वाली परिभाषाओं की कसौटी पर न कसा जाय बल्कि उन्हें मौलिक प्रयोग मानकर उनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। इसी प्रकार से हिन्दी में रस, नायिका-भेद, गुण-दोष, छन्द-शास्त्र आदि के ग्रन्थ तैयार होने चाहिएँ।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य का भी इसी प्रकार विश्लेषण करने की आवश्यकता होगी। प्रसाद के नाटकों के शास्त्रीय विश्लेषण के आधार पर ही हिन्दी के अपने नाट्य-शास्त्र की नींव पड सकेगी और इसी नींव पर इस विषय के भवन का निर्माण करना होगा। प्रेमचन्द की कहानियो का शास्त्रीय अध्ययन हमें अपनी कहानी-कला के सिद्धान्तों की मौलिक सामग्री दे सकेगा। थोडी देर के लिए संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को भुलाकर हमे यह कार्य करना होगा।

हिन्दी के अपने काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के निर्माण के कार्य को हमे दो भागों मे बॉटना होगा। व्यक्तिगत हिन्दी कवियो तथा लेखकों की कृतियों का शास्त्रीय विश्लेषण करना, क्रमबद्ध करना तथा उससे निष्कर्ष निकालना। इसमे खोज-कार्य मे दिलचस्पी रखने वाले सैकडो विद्यार्थियों को लगाया जा सकता है। यह कार्य पूरा हो जाने पर इस सामग्री के आधार पर हिन्दी के विद्वान् हिन्दी काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ लिख सकेंगे जो हिन्दी-साहित्य से संकलित उदाहरणों से पूर्ण रहेंगे—एक प्रकार से उन्हीं का निचोड होगे। यह हिन्दी का काव्य-शास्त्र संस्कृत अथवा अंग्रेजी काव्य-शास्त्र से किस अंश मे प्रभावित है तथा किस अंश मे मौलिक है यह कार्य अन्त मे तीसरी खेप के विद्वानो के लिए छोड देना चाहिए। हिन्दी के अपने साहित्य-शास्त्र के निर्माण की वास्तविक सीढ़ियॉ तो पहली और दूसरी है जिनमे हिन्दी आलोचना-शास्त्र के विद्यार्थियो तथा विद्वानो को शीघ्र कदम उठाना है।

●

चन्द्रबली पांडे

जायसी की भूल

'जायसी-ग्रन्थावली' मे डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त का कहना है—

"यद्यपि मार्गशीर्ष-पौष मास हेमन्त के माने गए हैं, किन्तु 'हेम' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियो में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असम्भव नहीं माना जा सकता है।"

साथ ही यहॉ इतना और भी समझ ले कि इसके ठीक पश्चात् अगले ही 'छन्द' मे फिर आपकी ही टिप्पणी है—

"माघ-फाल्गुन मास शिशिर के ही माने गए हैं, किन्तु 'सिसिर' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियों में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक

ठहरते हैं, इसलिए यहाँ पर भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असम्भव नहीं माना जा सकता है।"

बात ठीक ही कही गई है। विरोध इसका कोई क्योंकर कर सकता है? परन्तु क्या सम्पादक का यही कहना पर्याप्त समझा जायगा? प्र० १, २, द्वि० ७ का पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अप्रामाणिक ही होगा, इसका प्रमाण क्या? यहाँ तो 'प्रामाणिक' है न? यदि नहीं तो कृपाकर अपने इस 'प्रामाणिक पाठ' पर ध्यान दें। यहाँ 'सिसिर' की स्थिति क्या है? पूर्वराग की दशा में--

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ।
पदुमावति सब सखीं हँकारीं। जाँवत सिंघल दीप की बारीं।
आजु बसंत नवल रितुराजा। पंचिमि होइ जगत सब साजा।
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा।
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ।
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते।
अवधि आइ सो पूजी जो इंछा मन कीन्ह।
चलहु देव गढ गोहने चहौं सो पूजा दीन्ह ॥१८३॥

प्रश्न उठता है कि कवि की दृष्टि में 'सिसिर' के बाद 'वसन्त' का आगमन होता है अथवा 'हेमन्त' के बाद। समाधान के पहले ही इतना और भी जान लें कि कवि का कथन है 'सिरी पञ्चमी' के विषय में ही इस 'संस्करण' में स्पष्ट, स्फुट और निर्विवाद

माघ मास पाछिल पख लागें। सिरी पंचिमी होइहि आगें।
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू।
पदुमावति पुनि पूजैं आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा।
तुम्ह गवनहु मंडप ओहि हौं पदुमावति पास।
पूजैं आइ बसंत जौं पूजै मन कै आस ॥१६२॥

अतएव यह सरलता से कहा जा सकता है कि कवि को 'सिरी पंचमी' और 'वसन्त' का यथार्थ बोध है और फलतः वह 'वसन्त पंचमी' का ठीक निर्देश करता है। परन्तु ऋतु के विचार से तो अभी 'वसन्त' ऋतु है नहीं। माघ-फाल्गुन की गणना तो 'शिशिर' ऋतु में है न? फिर यह प्रमाद कैसा? क्या हम इसे जायसी की भूल कह सकते हैं? जायसी कहते हैं, किस ठिकाने से, ठीक अवसर पर—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो जायसी का अर्थ क्या है? स्मरण रहे 'प्रामाणिक' संस्करणानुसार जायसी की दृष्टि में 'शिशिर' का योग है अगहन और पूस। कहते हैं, रत्नसेन और पद्मावती के सम्भोग को लक्ष्य कर

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहुँक अंग एक मिलि लागा।
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिच हार न रहा।
जानहुँ चंदन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।

भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुडानी।
जूझै दुहुँ जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै भागा।
दुई घट मिलि एकै होइ जाहीं। पेम मिलहिं तबहूँ न अघाहीं।
हंसा केलि करहि जेउँ सरवर कुंदहि कुरलहि दोउ।
सीउ पुकारै दाद भा जस चकई क बिछोउ॥३३९॥

और 'हेमन्त' की स्थिति है ठीक इसके पश्चात् ही—

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ-फागुन सुख सीउ सियाला।
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती।
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहुँ दुख कर खोजू।
जहँ धनि पुरुख सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा।
जाइ इन्द्र सौं कीन्हु पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा।
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा।
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा।
भएउ इन्द्र कर आएसु प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै प्रभुता कबहुँ काहु कै होइ॥३४०॥

जायसी ने ऋतु-वर्णन को यही समाप्त कर दिया है, कारण कि उनका आरम्भ हुआ था—

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई। सुरितु चैत वैसाख सुहाई।
चन्दन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा।
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कविलासू।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कन्त मिले सुख बासी।
पिउ संजोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहि धमारी।
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी।
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होइ सब चूरू।
जेहि घर कंता रितु भली आउ बसंता निन्तु।
सुख बहरावहिं देवहरै दुक्ख न जानहि किन्तु॥३३५॥

जायसी ने 'हेमन्त' के बाद 'शिशिर' को नही माना ऐसा यहाँ सिद्ध होता है। यह कवि की भूल कही गई है। किन्तु यह भूल कैसी और क्यो है? इसके पहले ही तो कवि ने १८३ मे ही कह दिया था—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो फिर इसका अर्थ क्या? क्या कवि यहाँ भी 'सिसिर' का अर्थ अगहन-पूस ही समझता है? और फिर 'सिसिर' का पाठ क्यो? प्रामाणिक संस्करण का पाठान्तर है न—

"द्वि० १, २, ३, ६, ७, तृ० ३, च० १ सो रितु, द्वि० ४, ५, पं० १ सुरितु।"

तो हम जानना चाहते हैं कि वास्तव मे 'सो रितु' क्यो ठीक नही और इसके स्थान पर 'सिसिर' क्यो ठीक है। और यदि यह ठीक है तो इस पर कोई टिप्पणी क्यो नही? क्या 'सिसिर' के बाद 'सिरी पंचमी' का आगमन होता है?

●

डॉक्टर कामिल बुल्के

'रामचरितमानस' का रचना-क्रम

'रामचरितमानस' की कथावस्तु तथा उसके विभिन्न अंगो के आधार-ग्रन्थो का पूरा विश्लेषण करने के बाद सुश्री सी० वोदवील[1] उसके रचना-क्रम के ये तीन सोपान निर्धारित करती है—१. रामचरित, २. शिवरामायण, ३. भुशुण्डी रामायण।

१. *'रामचरित'* : प्रथम पाण्डुलिपि के विषय मे डाक्टर माताप्रसाद गुप्त का मत स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार इसमे बालकाण्ड का उत्तरार्द्ध (१८४ ३६१) तथा सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड था।[2] सुश्री वोदवील का विचार है कि उस सामग्री के अतिरिक्त 'रामचरित' मे अरण्यकाण्ड का प्रारम्भ (१-६) तथा बालकाण्ड की प्रस्तावना का पूर्वार्द्ध (१-२६) भी रहा होगा। प्रस्तावना के पूर्वार्द्ध मे 'रामचरितमानस' नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है, और न किसी संवाद का। कवि ही वक्ता है; यद्यपि शिव का नाम कई बार आया किन्तु रामकथा के वक्ता अथवा रचयिता के रूप मे नहीं।

बालकाण्ड (१८४-२०५) के कई स्थलो पर शिव वक्ता के रूप मे आते है। उसके विषय मे डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त के अनुसार माना गया है कि द्वितीय पाडुलिपि तैयार करते समय कवि ने इस अंश मे कुछ परिवर्तन किया होगा। यह अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ पर भी लागू है, क्योंकि इसमे शिव तथा कवि[3], दोनो ही वक्ता है।

सम्भव है गोस्वामी तुलसीदास के अयोध्या से चले जाने के कारण रामचरित की रचना स्थगित कर दी गई हो।

२. *'शिवरामायण'* : रामचरितमानस के शेष अंगो से स्पष्ट है कि रामचरित के स्थगित करने के बाद कवि का दृष्टिकोण बदल गया है। अब वे अपनी रचना को शिव-पार्वती-संवाद के रूप मे प्रस्तुत करना चाहते हैं। काव्य-ग्रन्थ (रामचरित) मात्र न रहकर, एक साम्प्रदायिक रामायण (शिवरामायण) का रूप धारण कर लेता है। सम्पूर्ण प्रथम पाण्डुलिपि के अतिरिक्त, इस रामायण मे निम्नलिखित सामग्री थी—बालकाण्ड १०५–१८४, अरण्यकाण्ड से युद्धकाण्ड तक, उत्तरकाण्ड का पूर्वार्द्ध (१-५२)।

'शिवरामायण' मे भुशुण्डी का बहुत से स्थलो पर उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध मे डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त[4] का मत है कि जब कवि ने अन्त मे काक भुशुण्डी को रामायण के वक्ता के रूप मे रखा तब उन्होंने यह आवश्यक समझा कि अन्य काण्डो मे भी वक्ता के रूप मे भुशुण्डी की चर्चा कर दी जाय। सुश्री वोदवील का विचार है कि 'शिवरामायण' प्रारम्भ करते समय कवि

---

१. आपका अध्ययन पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है और वहाँ छप रहा है।

२. देखिए, 'तुलसीदास' पृष्ठ २६४।

३. देखिए, 'पर नर भरत प्रीति मैं भाई'।

४. देखिए, 'तुलसीदास', पृष्ठ २६४।

के मन में भुशुण्डी को वक्ता के रूप में रखने की बात नहीं आई। अतः बालकाण्ड पूर्वार्द्ध[1] तथा बालचरित में भुशुण्डी अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित है।[2] द्वितीय पाण्डुलिपि के अन्य काण्डों में वक्ता के रूप में जो भुशुण्डी के उल्लेख मिलते हैं इसका कारण यह होगा कि तुलसीदास के पास 'भुशुण्डी रामायण' था ही। ये उल्लेख सम्भवतः उस भुशुण्डी रामायण की सामग्री की ओर निर्देश करते हैं और कवि पर भुशुण्डी रामायण का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रमाणित करते हैं, यहाँ तक कि उत्तर काण्ड में उस रामायण का एक विस्तृत उद्धरण भी दिया गया है।[3] उस अंश में शिव अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित है।

३. *'भुशुण्डी रामायण'* : शिव रामायण सात काण्डों में विभक्त था और स्वतःपूर्ण भी था। लेकिन भुशुण्डी रामायण का कवि पर इतना प्रभाव पड़ा था कि उन्होंने बाद में भुशुण्डी-गरुड-संवाद को भी अपनी रचना में जोड़ दिया है। उस संवाद में भुशुण्डी शिव से स्वतन्त्र वक्ता है। शिव स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि मैंने रामकथा काक भुशुण्डी से सुनी थी।[4] फिर भी अपने काव्य की एकता सुरक्षित रखने के लिए तुलसीदास ने अन्त में शिव को प्रधान वक्ता के रूप में माना है[5] तथा प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध में भी लिखा है कि शिव ही रामचरितमानस के रचयिता हैं और उन्होंने काक भुशुण्डी को अधिकारी समझकर उसे रामकथा सुनाई थी।

बहुत सम्भव है कि मूल भुशुण्डी रामायण का नाम 'रामचरितमानस' ही था। अतः भुशुण्डी-गरुड़-संवाद को अपनी रचना में जोड़ देने के बाद ही तुलसीदास ने उसे 'रामचरितमानस' का नाम दिया है। यह नाम विभिन्न काण्डों की पुष्पिका तथा बालकाण्ड के प्रक्षिप्त तीन सोरठों (१२०) को छोड़कर, केवल प्रस्तावना उत्तरार्द्ध तथा उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध में आया है; ये अंश तृतीय पाण्डुलिपि के ही हैं। सुश्री सी० वोदवील के अनुसार तृतीय पाण्डुलिपि का रचना-क्रम इस प्रकार है—(अ) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०, (आ) शिवचरित, बाल काण्ड ४४-१०४, (इ) प्रस्तावना उत्तरार्ध, ३०-४३।

'शिवचरित' पहले नहीं रखा गया था, इसका प्रमाण यह है कि रामचरितमानस की कथावस्तु का जो सिंहावलोकन उत्तर काण्ड में दिया गया है[6], उसमें शिवचरित का उल्लेख नहीं है।

समालोचना

रामचरितमानस के रचना-क्रम के उपर्युक्त तीन सोपान स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मेरी समझ में इस प्रकार का विभाजन सुश्री वोदवील के अध्ययन का एक बहुमूल्य परिणाम है। फिर भी अन्तिम दो की सामग्री में कुछ परिवर्तन अपेक्षणीय है, तथा विकास के तीसरे रूप का नाम 'रामचरितमानस' रखना अधिक उचित प्रतीत होता है।

मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार उत्तरकाण्ड में भुशुण्डी-गरुड-संवाद की भूमिका के रूप

---

१. देखिए, पृष्ठ १४६।
२. बालकाण्ड के तीन सोरठे १२० क ख ग स्पष्टतया बाद में जोड़ दिये गए हैं।
३. देखिए, पृष्ठ १२-२२।
४. देखिए, 'उत्तरकाण्ड' पृष्ठ ५२-५७।
५. देखिए, पृष्ठ १२६-१३०।
६. देखिए, पृष्ठ ६४-६६।

मे शिव-पार्वती-संवाद रखा है।[1] इस प्रकार बालकाण्ड मे भी शिव-पार्वती-संवाद की भूमिका स्वरूप याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पाण्डुलिपि मे प्रारम्भ से ही विद्यमान था।[2] सुश्री वोदवील के रचना-क्रम के अनुसार याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद बिलकुल अन्त मे, प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध के पहले जोड दिया गया है। द्वितीय पाण्डुलिपि मे[3] याज्ञवल्क्य के जितने उल्लेख मिलते हैं, वे सब-के-सब बाद के प्रक्षेप हैं। अवतार-हेतु की विभिन्न कथाओ मे सम्बद्धता का अभाव था, अतः तुलसीदास ने बाद मे याज्ञवल्क्य को उनका वक्ता बनाकर उन्हे एक सूत्र मे ग्रथित किया है। यह तर्क बहुत चिन्त्य है, और अनावश्यक भी; यदि मान लिया जाय कि याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पाडुलिपि का अंश था, तो सारी समस्या हल हो जाती है।

'शिवचरित'[4] के विषय मे मेरा अपना विचार है कि यह एक स्वतन्त्र रचना है; उसकी शैली, भाषा और छन्द-योजना यह अनुमान दृढ़ करती है कि वह प्रथम पाण्डुलिपि के समय ही लिखा गया था। 'सिय-रघुवीर विवाह'[5] तथा भरत-चरित[6] के समान ही उसकी अपनी फलस्तुति है। उत्तरकाण्ड मे जो 'रामचरितमानस' का सिंहावलोकन है, उसमे 'शिवचरित' का उल्लेख नही है। अतः तुलसीदास ने उसे बाद मे, प्रस्तावना उत्तरार्द्ध (उसमे 'शिवचरित' का उल्लेख है) के पहले अपने काव्य मे जोड दिया है।

एक बात और विचारणीय है। उत्तर काण्ड मे 'रामचरितमानस' के सिंहावलोकन मे[7] मानस-रूपक का उल्लेख है। अतः बहुत सम्भव है कि प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का एक पूर्वरूप उत्तरकाण्ड से पहले लिखा था। इसके अतिरिक्त बालकाण्ड के दोहे ३१-३२, जिनमे राम-चरित का उल्लेख है, सम्भवतः प्रथम पाण्डुलिपि के अन्तर्गत थे। इस प्रकार 'रामचरितमानस' की निम्न लिखित रचना अधिक समीचीन प्रतीत होती है—

क. रामचरित : (१) बालकाण्ड १-२६, ३१-३२ प्रस्तावना पूर्वार्द्ध
(२) बालकाण्ड १८४-२०५ का पूर्वरूप, २०६-३६१
(३) अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण

ख. शिव रामायण : (१) बालकाण्ड ४४-४७, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ
(२) बालकाण्ड १०५-१८३, शिव-पार्वती-संवाद, अवतार-हेतु
(३) बालकाण्ड १८४-२०५ का प्रस्तुत रूप
(४) अरण्यकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक
(५) उत्तरकाण्ड उतरार्द्ध १-५२

---

१. देखिए, पृष्ठ ६२

२ प्रस्तुत विवेचन के दृष्टिकोण से बालकाण्ड की कथा-वस्तु का निम्नलिखित विभाजन सुविधाजनक है : (१) १-४३ प्रस्तावना; (२) ४४-४७ याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ; (३) ४८-१०३ शिवचरित; (४) १०४-१२० शिव-पार्वती-संवाद का प्रारम्भ; (५) १२१-१८३ अवतार-हेतु की कथाएँ; (६) १८४-३६१ रामचरित।

३. देखिए, पृष्ठ १०४-१७६।

४. बालकाण्ड, ४८-१०३। ५. देखिए, बालकाण्ड, ३६१। ६. देखिए, अयोध्याकाण्ड पृष्ठ ३२६

७. देखिए, पृष्ठ ६४

ग. रामचरितमानस : (१) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का पूर्वरूप—मानसरूपक

(२) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०

(३) पूर्वरचित 'शिवचरित' ज्यों का त्यों बालकाण्ड में (४८-१०३) जोड़ दिया जाता है।

(४) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का प्रस्तुत रूप। बालकाण्ड, ३३-४३।

(५) गौण प्रक्षेप—जैसे बालकाण्ड के सोरठे १२० (ख, ग, घ) तथा प्रस्तावना का विविध संवादों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न।[1]

---

१. देखिए, चौ० दो० ३०।

प्रस्तुत प्रश्न

पॉल वेलरी

भविष्यत्-साहित्य[1]

: १ :

मानव-चेतना ने भौतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की और आज भौतिक परिस्थितियाँ अपनी पराजय का मूल्य पाई-पाई अदा कर देने पर उतारू है। भौतिक परिस्थितियाँ हमको ऐसे स्थल पर ले जा रही है, जहाँ पहुँचकर हम होश खो बैठे है। हम अपनी आदिम परिस्थितियो से प्रतिक्षण दूर होते जा रहे है। भयानक गति से हम ऐसी भौतिक व्यवस्था मे प्रवेश करते जा रहे हैं जिनका उलझाव, अस्थायित्व, और अद्भुत विशृङ्खलता हमको स्तब्ध कर रही है, जिसने हमसे हमारी भविष्य को देख पाने वाली दृष्टि छीन ली है, जिसने हमे भविष्य के विषय मे कोई भी निश्चित धारणा न बना पाने के लिए मजबूर कर दिया है।

इस सबका प्रभाव मन पर पडना अनिवार्य है। मानव-चेतना ने जिस दृश्यमान् जगत् को इतना बदल दिया है, स्वाभाविक है कि वह दृश्यमान् जगत् मानव-चेतना का दृष्टिकोण बदल दे। अतीत की परम्पराओ से सर्वथा पृथक्, बिलकुल नई समस्याएँ और अबूझ पहेलियो से हमे

१. आलोचना के इस अंक मे भविष्यत् साहित्य के सम्भावित स्वरूप के विषय में हम दो मनीषियो के विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति चेतना को जिस रहस्यमय देश की सीमा तक ले गई है उसने हमारी आज की समस्त मान्यताओं के सामने एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि और विचारक पॉल वेलरी की फ्रेन्च गद्य-कृति 'आधुनिक विश्वचिन्तन' के एक अंश पर आधारित जिन विचारों को हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं उसमें भौतिक विज्ञान के चमत्कारों ने उसे भयाकुल कर दिया है। भविष्य के प्रति उसके अनुमानों में एक निराशा और त्रास की भावना है जिससे वह उबरने का प्रयास करता है। उसके बाद श्री अरविन्द का अत्यन्त विचारोत्तेजक लेख है, जिसमे आशा का अदम्य स्वर है। उनके दर्शन से सभी सहमत हों यह आवश्यक नही, किन्तु काव्य के प्रति उनका मौलिक दृष्टिकोण हम गम्भीर विचार-विनिमय के लिए हिन्दी के कृतिकारो और पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। इस लेख को रूपान्तरित करने में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सुझाव और सहयोग के लिए हम आभारी हैं।

चमत्कृत कर दे।

इस स्थिति ने निस्सन्देह अपने भविष्य के प्रति हमे चिन्तित कर दिया है। जहाँ एक ओर हम अपने इस अभियान की आगामी मंजिल को पंजो के बल खड़े होकर, गरदन उठाकर देखने के लिए उत्सुक है, हम अपने आने वाले कल की शक्ल जान लेना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर हम यह महसूस करते है कि हमारी जीवन-दृष्टि दिन-प्रतिदिन दूर देख पाने मे असमर्थ होती जा रही है। हमारी चेतना का जीवन केवल एक दिन की आयु का होता है। हर दूसरे दिन उसका नवीन जन्म होता है। युद्ध, भूकम्प, महामारी या इसी प्रकार के अप्रत्याशित संकट के दिनो मे मनुष्य की भविष्यत्-चेतना जितनी सशयपूर्ण हो जाती है, वैसी ही संशयग्रस्त और केवल तात्कालिकता मे केन्द्रित हमारी आधुनिक चेतना है। न केवल काल, प्रत्युत दिशा की दृष्टि से भी हम इसी प्रकार संशयग्रस्त होते जा रहे है। हमारे शास्त्र, हमारी आकाक्षाएँ हमारी, राजनीति, सब कुछ स्थानीय भावनाओ से अनुप्राणित होते रहे हैं। हमारे समस्त प्रतिष्ठान इस आधार पर बने है कि राष्ट्रो और व्यक्तियो का क्षेत्र तथा सीमाएँ न्यूनाधिक यही रहेगी।······लेकिन आज अकस्मात् स्थानान्तरण की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी है, आधुनिक जीवन यायावर हो उठा है, चिर-चलायमान; यात्रा की जो सुविधाएँ और जो साधन भौतिक विज्ञान ने हमे दिये हैं उसने इस प्रवृत्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।

इस प्रकार हमारी चेतना का वर्तमान संकट यह है कि उन्मूलित और यायावर मानव आज प्रश्न-चिह्न बनकर स्थायी और परम्परावद्ध मानव के सम्मुख खडा है। हम आज एक प्राचीन परम्परागत व्यवस्था और अपनी धुरी से विचलित हो जाने वाली विकासमान सत्ता के बीच का तुमुल संघर्ष देख रहे हैं। एक ओर ये नये ढंग के खानाबदोश लोग सीमाओ को लाँघते हुए, चहारदीवारियो को तोडते हुए भटक रहे हैं, दूसरी ओर बार-बार किलो के परकोटो की मरम्मत कराई जा रही है, शहरपनाह की दीवारे और ऊँची कराई जा रही है, राष्ट्रीय सीमाओ पर कँटीले तारो का बाडा और घना किया जा रहा है।

मैंने अक्सर यह कहा है कि हम भविष्य के फाटको मे प्रवेश तो कर रहे हैं, लेकिन उल्टे पैरो चलकर। भविष्य की ओर हमारी पीठ ही है। इस गति से भी जीवन-संग्राम मे कभी-कभी सहायता मिलती है, किन्तु बाद मे कुछ विशेष जाति की मछलियो को भी इस गति का परित्याग कर देना पडा है। क्या आज भी हम वही गति कायम रख सकते है? यानी हम सोचे, जिये, और लिखे; मगर इस धारणा के साथ जो-कुछ अनागत है उसे हम अतीत की शब्दावली मे बाँध नही सकते और जो-कुछ घटित हो चुका है उसकी पृष्ठभूमि मे अघटित की व्याख्या नही कर सकते।

मेरी प्रार्थना है कि आप इस प्रश्न के महत्त्व को समझे। आज यह अनिवार्य है कि लेखक के मन मे अदृश्य भविष्य के लिए एक त्रस्त जिज्ञासा हो।

: २ :

बीते हुए कल की स्थिति कुछ और थी। हम भविष्य के प्रति इतने आशंकित नही थे। आशंका के बजाय एक क्रीड़ा-भावना मन मे थी, जिससे प्रेरित होकर हम अपरिचित, आकस्मिक घटनाओ का भी साहस और धैर्य से सामना करते है। पुनश्च हमारे जीवन की पिछली रीति-

नीति—विवाह, सामाजिक नियम, बीमा, बैंक, लेन-देन, ये सब इसके परिचायक है कि मनुष्य अपने भविष्य के प्रति बहुत कुछ आश्वस्त था, वह जानता था कि आने वाला कल आज से बहुत भिन्न नही होगा। पुनश्च, अगर कोई कवि हुआ, कलाकार हुआ, लेखक हुआ तो उसकी आस्था भविष्य पर और भी अधिक होती थी। वह अपनी कृतियो का लक्ष्य आगे आने वाली पीढ़ियो को मानता था इससे उसकी कृतियो मे स्थायित्व, परिपक्वता और ठोसता भी आती थी। उसका समस्त जीवन तात्कालिकता की मॉग के बजाय शाश्वत मूल्यो का अनुगमन करता था। लेकिन आज वह स्थिति नही रही और इसकी कोई आशा नही कि हमारे अस्थि-शेषो से भी अब कभी वही स्थिति पुनः वापस आये।

यह भी अब स्पष्ट होने लगा है कि विभिन्न देशो मे भावी समाज-व्यवस्था की जो रूप-रेखाएँ बनाई जा रही है, उनमे साहित्य के संरक्षण को एक अनावश्यक बुद्धि-विलास मानकर महत्त्वपूर्ण स्थान नही दिया जा रहा है। केवल कुछ अल्पसंख्यक बुद्धिजीवियो का विकास, मुट्ठी-भर व्यक्तियो को प्रश्रय, उनका पालन-पोषण (जो भौतिक अर्थ मे बहुसंख्यक लोगो को कुछ भी नही दे सकते) शासन-सत्ता के लिए भला क्या महत्त्व रख सकता है। इसलिए लेखको के सम्मुख साहित्य की जीवन-व्यापी साधना, एक-एक कृति को अपनी सम्पूर्ण संचित अनुभूति से सिक्त करने की कल्पना जो गोएटे के समय सम्भव थी आज केवल अतीत की मधुर कल्पना ही प्रतीत होती है। आखिर कवि, दार्शनिक, कलाकार अभी तक कैसे जीविका उपार्जित करते रहे। उन्होने मानव-जाति के लिए उन कृतियो का सृजन किया है जो मानव-संस्कृति के गौरव-चिह्न है, किन्तु किस आधार पर ? सच तो यह है कि वे किसी प्रकार अस्तित्व धारण किये रहे। आर्थिक व्यवस्था मे कुछ इतनी अनियमितता रही है कि कुछ भी निश्चित नहीं था। किसी को ऐश्वर्य, तो किसी को सूखी रोटी। वर्लें किसी तरह दान-दया के सहारे जिया, तो विक्टर ह्यूगो लखपती होकर मरा। कुछ ने महल खड़े कर लिये तो कुछ दीवालिये हो गए। किन्तु अब जो स्थिति है उसमे लेखन का आर्थिक भविष्य कुछ बहुत उज्ज्वल नही दीख पडता। शासन-सत्ता का यन्त्र उन पर अपने शिकञ्जे बुरी तरह कस रहा है और चाहे कोई कहे कि उन पर अनुशासन नही रखा जा रहा है, किन्तु फिर भी उस पर इस बात की विवशता दिन-प्रतिदिन आरोपित हो रही है कि शासन-सत्ता कोई भी हो किन्तु वह यही कहता रहे कि यही शासन-सत्ता सर्वोत्तम है, और इसीकी अधीनता मे समाज का सर्वश्रेष्ठ निर्माण सम्भव है।

: ३ :

आर्थिक स्थिति के बाद अब दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है भाषा के माध्यमो का। साहित्य की वाहिनी 'भाषा' है। मनुष्य ने अभी तक भाषा के रूप को सुरक्षित रखने के लिए लेखन-प्रणाली और लिपि का प्रयोग किया है। किन्तु इस वैज्ञानिक युग मे बहुत-से महत्त्वपूर्ण साधन ऐसे विकसित हो रहे है जो भाषा के स्वरूप को, उसके प्रभाव को, उसके वृत्त को नये रूप देगे, नई प्रणाली से आयोजित करेगे। यदि अन्य साधनो को छोड दे तो ग्रामोफोन और रेडियो, दो साधन ऐसे है जो स्पष्ट हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इनकी लोकप्रियता जिस प्रकार बढ रही है, और लिखित वाणी के स्थान पर बोली हुई वाणी को सुरक्षित रखने के जितने सरल माध्यम इन प्रणालियों ने खोज निकाले है उनसे अभी से यह सम्भावना उत्पन्न होने लगी है कि कहीं धीरे-धीरे पाठ्य-

साहित्य विलुप्त न हो जाय और केवल श्रव्य-साहित्य ही भाषा के प्रयोग की मुख्य दिशा न बन जाय।

लेखन-पद्धति का विलोप निस्सन्देह हमें मानव-संस्कृति की आदिम अवस्था की ओर वापस ले जायगा और साहित्य के शिल्प की दृष्टि से आश्चर्यजनक क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावनाएँ हैं। इससे यह लाभ तो अवश्य है कि काव्य-रूपों के विधान में पुनः श्रवण का विशेष महत्त्व प्रतिष्ठित हो जायगा। ध्वनि और ध्वनि-ग्रहण के बीच से लिखित अक्षर का माध्यम हट जायगा। साहित्य का रूप-विधान और उसकी प्रेषणीयता पर इसका तत्काल प्रभाव होगा। कुछ कवियों में जो दुरूहता मिलती है, वह उनके मुख से सुने जाने पर कम हो जायगी, लेकिन पाठक (जो श्रोता में बदल जायँगे) अक्सर किसी भी पद्यांश या गद्यांश को दुहरा-दुहराकर उस तरह न पढ़ पायँगे, जैसा अभी उन्हें सुलभ है।

श्रव्य के अतिरिक्त दृश्य तत्त्व में भी नवीनताएँ आयँगी। यदि टेलीविजन का विकास हुआ तो उपन्यासों और कविताओं के तमाम प्राकृतिक दृश्य-वर्णनों की कोई भी आवश्यकता न रहेगी। उनको प्रस्तुत करने के लिए दूसरे अधिक सशक्त साधन सुलभ हो जायँगे। उनके उद्दीपन-स्वभाव का क्या होगा, यह कहना कठिन है। इसी प्रकार अरूप-चिन्तन-प्रधान साहित्य के भावी रूप का भी अभी अनुमान नहीं किया जा सकता।

: ४ :

लेकिन हमारे अभी तक के अनुमान अपनी तात्कालिक भौतिक शक्तियों पर ही आधारित रहे हैं। यह सम्भवतः एकांगी दृष्टिकोण है। साहित्य का भविष्यत्-रूप सोचने के अर्थ यह भी हैं कि हम पूर्ण मानवीय चेतना के भविष्यत्-रूप पर विचार करें। भविष्यत्-साहित्य में भविष्यत्-चेतना को ही तो अभिव्यक्त होना है। चिन्तन का यह स्थल अत्यन्त जटिल है। क्योंकि भविष्यत् स्वयं अभी रूप ग्रहण कर रहा है और हमारी आज की भविष्यत्-कल्पना हमारी चेतना की आज की सीमाओं से बँधी हुई है। पहले हम भाग्य से दाँव लगाते समय सभी पासों को पहचानते थे, लेकिन आज स्थिति यह है कि पासे बिलकुल अपरिचित हैं और हर बाजी को लगाते समय निर्णय के नियम एकाएक बदल जाते हैं। वास्तव में हम जिस युग में जी रहे हैं वह बौद्धिक संकटों का युग है। नूतनता आज के युग में एक स्वतःसिद्ध गुण बनती जा रही है। यह नूतनता सांस्कृतिक परम्परा के विकास में सदैव सहायक ही हो, यह बात नहीं है। वह घातक भी सिद्ध हो सकती है, पुराने मूल्यों को निर्ममता से उखाड़ फेंक सकती है। किन्तु एक दूसरी सम्भावना भी है।

मैं आपको यह चेतावनी इस स्थल पर दे दूँ कि अब हम एक मानसिक दिवा-स्वप्न-शृङ्खला में डूबने जा रहे हैं, जो एडगर एलन पो, वेल्स या वर्न के लिए भी सम्भव नहीं थी। सच तो यह है कि विज्ञान की कई शताब्दियों की प्रगति के बाद सभी आज इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं कि वे न चेतना के विषय में कुछ जानते हैं और न संवेदनाओं के विषय में। भौतिक तत्त्व वेताओं से बात करने पर अक्सर यही पता चला है कि वे भौतिक जगत् का रहस्य सुलझा पाने में असमर्थ हैं। तत्त्व, शक्ति, विकास—सभी अर्थहीन से होते जा रहे हैं।

स्मृति तथा वे अन्य मानसिक शक्तियाँ, जिनके समवेत पुञ्ज को सम्भवतः हम 'चित्त'

कहते हैं, और भी अधिक अज्ञात है। सम्भव है कि जैसे पिछले ४० वर्षों में भौतिक जगत् के विषय में हमारे सारे विचार बदल गए हैं, चित्त के विषय में भी हम सर्वथा नई भूमि पर जा पहुँचे। विज्ञान की प्रगति ने आज भौतिकता और मानसिकता का भेद मिटा दिया है। वे केवल एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं, विज्ञान में उनका कोई अलग अर्थ नहीं रह गया है।

अन्ततोगत्वा होगा क्या ?

मेरे एक महान् वैज्ञानिक घनिष्ठ मित्र का, जिनका विश्वास अभी विकासवाद में है, यह कथन है कि अन्त में मनुष्य की परिणति यह होगी कि उसे बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध होंगी जिनसे उसके वर्तमान अन्तर्विरोधों का शमन हो सकेगा; फिर दो-तीन हजार वर्षों में मानवीय चेतना बिलकुल एक नये जगत् को देख सकेगी जिसमें दिशा और काल के नये तत्त्व होंगे, आज जो केवल गणित के प्रतीक समाधान मात्र हैं वे कल के यथार्थ होंगे। आज जो अत्यन्त दुरूह कल्पनाएँ हैं वे कल (अर्थात् हजारों वर्ष बाद) मानव की सहज प्रेरणाएँ बन जायँगी। भविष्यत्-साहित्य भी इसीके अनुरूप होगा।

अरविन्द

भविष्यत्-काव्य

: १ :

युग-परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से पहली बात यह समझ में आती है कि सम्भवतः अभी भी नये युग का पदार्पण नहीं हुआ है, किन्तु मानवता के इतिहास का एक नया युग हमारे द्वार खट-खटा रहा है, यह काल प्रतीक्षा और तैयारियों का काल है, संक्रान्ति-काल है। हर जगह, हर दिशा में लोग कुछ-न-कुछ नया खोजने की चिन्ता में हैं। पिछले ढाँचे, पिछले आदर्श, पिछली शक्तियाँ आज सन्तोष नहीं दे पातीं; आविष्कार और अन्वेषण की प्यास; भाषा, छन्द, रूप-विधान की अन्तर्निहित अनजानी शक्तियों को खोज निकालने की कामना आज सभी में जाग उठी है; क्योंकि एक अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अधिक विराट् जीवन-चेतना जन्म ले रही है; अभी बहुत-सी ऐसी गूढ़ और मर्ममयी बातें कही जानी शेष हैं जो अभी तक नहीं कही गईं—और भाषा की उच्चतम वाहिका कविता को उस भविष्यत्-वस्तु-तत्त्व के लिए उपयुक्त वाणी खोजनी है।

लय (rhythm) की एक नई शक्ति खोज निकालने का अथक प्रयास—यह इस आगामी क्रान्ति का प्रथम संकेत प्रतीत होता है। समग्र मानव जाति अपने चिन्तन में एक नये दर्शन की ओर प्रगति कर रही है और यह अनिवार्य है कि कविता में इस आन्तरिक प्रगति की व्याख्या और प्रतिध्वनि मिले। निकट भविष्य में आने वाली इस नवीन जीवन-चेतना की आतुर और अधीर प्रेरणा अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक सम्पूर्णतः नवीन लय-विधान ढूँढ रही है और इसीलिए चारों ओर हमें नए व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित आन्दोलन मिलते हैं, जो काव्यात्मक लय-विधान की पुरातन पद्धति में एक सर्वव्यापी, अकल्पनीय क्रान्ति के लिए अथक प्रयास करने

मे लगे हुए हैं।

यह स्वाभाविक भी है, मनुष्य की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति कविता भी चिरविकासशील है। काव्य एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है और काव्य-प्रेरणा मनुष्य के मानस और आत्मा की अतुल शक्तिमयी अभिव्यक्ति पिपासा है। चूँकि काव्य-प्रेरणा आत्मा की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति-पिपासा है, अतः अन्तर्जीवन के विकास के साथ-साथ काव्य-प्रेरणा का भी विकसित होना आवश्यक है। इस विकास की कई क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

पहली अवस्था मे मनुष्य बाह्य भौतिक संसार पर दृष्टिपात करता है और उसकी जीवन-प्रक्रिया भी बाह्य महत्कार्यों मे अभिव्यक्त होती है—जैसे युद्ध, अभियान, अपहरण, आखेट। इस प्रकार के जीवन मे भी उसकी काव्य-प्रेरणा चरमोत्कर्ष तक पहुँच सकती है। इस अवस्था की झलक हमे होमर आदि के वीर-काव्य मे मिलती है।

जीवन के अधिक गहरे स्तर पर पहुँचकर उसके काम-मानस (desire Soul) मे अधिक क्रियाशीलता आती है, जो प्रथम बार उसे अन्तर्विश्लेषण के लिए विवश करती है और वह अन्तर्मुख होकर अपने आन्तरिक जीवन मे पैठने लगता है। इसीके साथ-साथ काव्य भी नये मोड लेता है, एक नई महत्ता को आत्मसात् करने के लिए वह अपने आयाम विस्तृत और गहरे करने लगता है। इन नई ऊँचाइयों का उत्तुङ्ग शिखर शेक्सपीयर है।

किन्तु मानस-पुरुष की अपेक्षाकृत व्यापक क्रियाशीलता को दर्शन और सृजन की यह प्रणाली बहुत काल तक नही उलझा सकती। वह जीवन के उन आवेगों, भाव-स्थितियो और चिन्तन-संकेतो मे सदैव आबद्ध नहीं रह सकता; क्योकि उसे मुक्त होकर, इनसे परे होकर यह समझना आवश्यक है कि 'वह' क्या है, और 'ये' क्या है—अपने शान्त विवेक-चक्षुओं से उसे इनमे पैठकर इनका विश्लेषण करना रहता है। इस गति का अनुगमन करते हुए काव्य भी संयमित, आवेशहीन, जटिलतर सूक्ष्मताओं से मुक्त 'क्लासिक' काव्य का रूप ग्रहण करता है, जिसका सौन्दर्य स्पष्ट होता है और एक आत्म-तुष्ट बौद्धिक दृष्टि को स्वीकार कर लेता है। ग्रीक और लैटिन कवियो की सफलता का यही मूलाधार है। लेकिन बाद मे वह बौद्धिकता आत्म-तुष्ट न रहकर अधिक जटिल और सर्वग्राही हो जाती है, अधिक व्यापक और विस्तृत ढंग से प्रभाव डालने लगती हैं; और सत्य की हर प्रकार की सम्भावित विधियो को ग्रहण करने का प्रयास करती है। आधुनिक युग की बौद्धिकता इसी प्रकार की है।

इस नई मानसिकता से उद्‌भूत होने वाली कविता बहुपक्षी काव्यात्मक भाव-प्रक्रियाओं से सम्पन्न होती है, वह कई प्रकार के योगो (Combinations) और प्रयोगो (Experiments) के क्रम से गुजरती है। जो युग स्वतः बहुमुखी हो, उसकी कविता भी निस्सन्देह बिना बहुमुखी हुए जीवित नही रह सकती। कवि की पश्यन्ती, चिन्तनमती, विश्लेषिका प्रतिभा अपने सौन्दर्य-सृजन की प्रक्रिया को ऐसी प्रत्येक वस्तु पर लागू करने मे नहीं हिचकती जो उसके वृत्त मे आती है।

: २ :

किन्तु इस सास्कृतिक विकास के सम्मुख इसी स्थल पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न-चिह्न लग जाता है—आखिरकार इस बौद्धिकता की परिणति कहाँ होगी ? बौद्धिकता सदैव दो अतिवादो

की ओर उन्मुख होती है। या तो वह तर्क के विश्लेषणात्मक समाधानो का आश्रय ग्रहण करके जटिलतम चिन्तन की अरूप सूक्ष्मता मे बदल जाती है या व्यावहारिक तथ्यात्मकता मे आश्रय खोजती है; बौद्धिकता की परिणति या तो दार्शनिकता के अतिरेक मे होती है या वैज्ञानिक की संकीर्णता मे। यूनान में बौद्धिकता के चरम विकास ने काव्य की हत्या कर डाली और उसके स्थान पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक मानस चूँकि अधिक जटिल और अधिक सम्पन्न है, अतः यह परिणति इतनी शीघ्रता और सरलता से नही आ सकी। किन्तु इस युग मे काव्य की मूलभूत भावभूमि और युग की मूल भावना मे कही-न-कही विषमता होने के कारण कविता की शक्ति, प्रेषणीयता, प्रभाव और महत्त्व मे थोडा ह्रास अवश्य अनुभव होता है।

इस ह्रास का अनुभव पाश्चात्य देशो मे उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ही होने लगा था जब कि सौन्दर्य-चेतना मे एक ह्रास के विषय मे दबे-दबे कुछ उल्लेख होने लगे थे और बहुत से आचार्य कला और काव्य के नवीन प्रयोगो और प्रवृत्तियो को इसीका लक्षण मानने लगे थे। एक समय तो ऐसा था जब यह बडी शक्ति से घोषित किया गया था कि अब धीरे-धीरे विज्ञान कविता का स्थानापन्न बन जायगा। दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जिनका यह अनुमान था कि वैज्ञानिक वस्तु-तत्त्वो से समन्वित होकर कविता जीवन की काव्यात्मक आलोचना बन जायगी और धीरे-धीरे उसे वही महत्त्व मिल जायगा जो विगत युगो मे दर्शन और धर्म को प्राप्त था।

इस तमाम अशान्त और विक्षुब्ध चिन्तन की पृष्ठभूमि मे यह चेतना आवश्यक रूप से वर्तमान थी कि वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक बौद्धिकता से प्रभावित युग सम्भवतः उच्च स्तर के काव्य-सृजन के लिए सामान्यतया सहायक नही होता। खरी बौद्धिकता काव्य-सृजन नहीं कर सकती।

किन्तु इस विषमता-मात्र के उल्लेख से हम युग का सही चित्र हृदयंगम नही कर सकते। कविता जिस सत्य को अभिव्यक्त करती है उसके दो रूप है—जीवन की वास्तविकता अर्थात् वस्तु-सत्य और जीवन का आन्तरिक क्रियाशील सत्य अर्थात् भाव सत्य, जो जीवन-विकास को प्रेरित करता रहता है। काव्य मे जहाँ वस्तु-सत्य का चित्रण है वहा भी अक्सर प्रेय तत्त्व की झलक मिल जाती है। किन्तु दूसरी सम्भावना इस बात की है कि काव्य भाव-सत्य की ओर उन्मुख हो जाय। आज की काव्य-धारा की सबसे अनोखी, प्रभावपूर्ण और सुन्दर कृतियो मे इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है, जहा कविता का प्रवाह आन्तरिकता की ओर है। ह्विटमैन और कार्पेण्टर, टैगोर तथा यीट्स, कुछ आधुनिक फ्रेञ्च-कवि सभी इसी धारा से प्रभावित हैं। किन्तु जब तक सम्पूर्ण युग-मानस उस दिशा को नही अपनाता तब तक इस प्रवृत्ति का पूर्णतम विकास नहीं हो सकता। किन्तु इस बात के संकेत स्पष्ट है कि आधुनिक मानस ने जो नया मोड लिया है वह उसे इसी लक्ष्य की ओर ले चलेगा। लगता है कि आज मानव प्रज्ञा, बुद्धि के माध्यम से उसकी सीमाओ का अतिक्रमण करके एक प्रेरणामयी भावात्मक मनोभूमि तक पहुँचने की सीमा पर है, यद्यपि इसके अर्थ यह नही है कि अभी तक बुद्धि और विज्ञान ने हमे जो विरासत दी है उसका हम निषेध करे। जैसा कहा जा चुका है कि यह यात्रा इन्हीं पथो को पार करते हुए होगी।

कुछ ऐसे आलोचक हैं जो इस प्रवृत्ति को केवल ह्रासोन्मुखता (डिकैडेन्स) का ही एक लक्षण मानते हैं। लेकिन उनकी विचार-धारा को प्रश्रय देने के अर्थ यह हैं कि हम यह मान लेते हैं कि जो-कुछ सफलता अतीत मे उपलब्ध की जा चुकी है, आज की कविता केवल उसे दुहरा

सकती है, वह बहिर्मुख रहकर ही सफल हो सकती है, वही उसकी स्वस्थ दिशा है। इसमे सन्देह नही कि इधर की कविता मे बहुत-कुछ कुण्ठित, विकृत और अस्वस्थ रहा है; किन्तु वह संक्रान्ति-काल की एक ऐसी मानसिक विशृङ्खलता का परिणाम है जिसके मूलभूत कारण समाप्त हो चुके है, किन्तु जिनका प्रभाव अभी तक चला आ रहा है या जो किसी कारण से अस्थायी तौर पर अत्यधिक तीव्र हो गया है। एक ऐसा युग जो, विराट्, नये शक्तिशाली आध्यात्मिक सत्यो को प्रकट कर रहा है, कवि की दृष्टि और कल्पना के लिए सर्वथा नये और अनजान लोकों का द्वार खोल रहा है—ऐसा युग ह्रास का युग नहीं हो सकता और न ऐसी कविता ह्रास की कविता हो सकती है।

भविष्यत्-काल—जब वह अपनी वर्तमान संक्रान्ति से सफलता पूर्वक परिपक्व होकर उदित होगा तब मानव के भौतिक अस्तित्व से, असम्पृक्त, अस्पष्टताओ मे उलझा हुआ रहस्यवादी दुरूहता का काव्य नही होगा। रहस्यवाद जिन अर्थों मे बदनाम है, उनमे वह अस्पष्टता और दुरूहता का समानार्थी बन गया है। किन्तु वैसा रहस्यवाद तभी अवतरित होता है जब हमे सत्य की झलक-मात्र मिलती है, उसका निकटतम साक्षात्कार नही मिलता, जब हमे इलहाम होता है, स्वतः प्रेरणा नही; और वह जीवन से विच्छिन्न इसलिए प्रतीत होता है कि चैतन्य और जीवन का हम भली भॉति परिणय नहीं करा पाते। लेकिन भविष्यत्-युग प्रकाश की झलक-मात्र का युग नही होगा; किन्तु एक प्रकाशमान सम्पूर्णता का युग होगा। सौन्दर्य-मानस चाहे वह कवि की वाणी मे रूपान्तरित हो या अनुप्रेरित, चिन्तक या पैगम्बर या द्रष्टा की वाणी मे, वह सत्य के प्रमुख द्वारो मे से एक होगा। चूँकि भविष्यत्-युग का लक्ष्य सत् की सामंजस्यमयी सम्पूर्णता होगी, अतः कोई भ. विषय काव्य के क्षेत्र से बाहर न समझा जायगा। ऐसा नहीं है कि भविष्य की ओर ले जाने वाले काव्य की यह पगडंडी किसी भी मेड़ पर जाकर समाप्त हो जाती है या किसी बहुत बड़े खेत मे ले जाकर छोड देती है—यह एक अपेक्षाकृत उच्च स्तर के नये विकास-क्रम की ओर ले जाती है—मनुष्य की शक्ति, उसके अस्तित्व, उसकी कार्य-प्रणाली और उसकी सृजन-प्रक्रिया के एक नूतन पुनर्जन्म की ओर ले जाती है।

: ३ :

अब प्रश्न यह है कि इस नये मानस द्वारा उद्भूत नई कविता की आदर्श प्रकृति क्या होगी? पुरुष और प्रकृति के कुछ गूढतम सत्यो के साक्षात्कार से समन्वित प्रेरणा, अवतरण और दर्शन (विजन) से युक्त चिन्तन की वाणी को मन्त्र कहा गया है। भविष्यत्-काव्य की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति होगी। सम्भव है यह परिभाषा अत्यधिक रहस्यवादी प्रतीत हो, किंतु आत्मोद्भूत और सत्य की द्रष्टा वाणी के लिए इसके अतिरिक्त और कोई शब्द नही है और यद्यपि वैदिक ऋषियो ने इस शब्द का प्रयोग और भी ऊँचे अर्थों मे किया है किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि वास्तविक रूप मे महान् काव्य की अभिव्यक्ति जहॉ कहीं भी मिलती है, जिस भाषा मे भी मिलती है, वह भाषा की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है।

इस नये मन्त्र-काव्य की नई काव्य-दृष्टि अतीत की भॉति जीवन से दूर, रहस्यमयी अस्पष्टता से युक्त, अन्तर्मुखी और हमारे ऐन्द्रिक अस्तित्व से विमुख न होगी, वरन् दिव्यताओं को धरती के अधिक निकट खींच लाने का प्रयास करेगी। फिर धरती माता से हमारे किसी प्रकार के

वैराग्यवादी नकारात्मक संघर्ष शेष न रहेगे। एक चेतना, (जिसमे समग्र जीवन आश्रय पायगा क्योकि वह समग्र जीवन से अधिक व्यापक होगी) इस नई कविता का नया काव्य-सत्य बनेगी जिसमे अपनी समग्र शक्ति से अस्तित्व धारण करेगे। और यदि ऐसा होता है या युग-मानस इसकी ओर प्रबल वेग से प्रवृत्त भी होता है, तब इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि कविता अपनी खोई हुई पवित्र प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ले। बहुत-सा ऐसा काव्य-सृजन होता रहेगा जो पुरानी लीक पीटता रहेगा, और यह स्वाभाविक भी है, किन्तु ऐसा भी कवि अवतरित हो सकता है जो ऋषि हो, द्रष्टा हो, सत्य साम का गायक हो और दिव्य सत्य तथा विश्व-सौन्दर्य का स्वर-साधक हो।

किन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि काव्य-सत्य से हमारा क्या तात्पर्य है और हम काव्य से किस प्रकार के सत्य की उपलब्धि की कामना करते हैं? हम सभी की 'सत्य' के विषय मे विभिन्न धारणाएँ है, इसीलिए यह प्रश्न इतना जटिल प्रतीत होता है। एक ओर तो वे लोग है जो स्पष्ट कहते है कि हमे किसी प्रकार के सत्य से कोई लेना-देना नही है, वे केवल सौन्दर्य के उपासक है और सत्य नही वरन् कल्पना ही उनकी पंखमयी दूतिका है, कल्पना-हंस ही उनकी सरस्वती का वाहन है। इसके सर्वथा विरुद्ध दूसरी कल्पना यह है कि बाह्य जीवन का सशक्त संघर्षमय सत्य ही काव्य का उपयुक्त वस्तु-तत्त्व हो सकता है। यही नहीं, वरन् ऐसे चिन्तकों का यह भी विचार है कि कविता को अपनी लय का संस्कार भी इस तरह करना चाहिए कि वह जीवन की गति के साथ ही रेंगे या कूदे या दौड़े, जीवन के हर सशक्त कदम की थाप और धमक को प्रतिध्वनित करे। वे काव्य से सौन्दर्य की नहीं, वरन् शक्ति की कामना करते है।

जिस काव्य-सत्य की ओर मै संकेत कर रहा हूँ वह इन सीमाओ से घिरा हुआ सत्य नही है। वह सत्य, जो अन्त मे काव्य से उपलब्ध होता है, सीमाहीन शिव (कल्याण) है। वह कल्पना का विरोधी नही है, कल्पना तो उसका वर्ण-विशेष है। इसी सीमाहीन सत्य को काव्य अपने सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अपनी रस-रीति से प्रदान करता है। किन्तु कवि का सत्य दर्शन, धर्म अथवा विज्ञान के सत्य से पृथक् है। कवि किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का हो सकता है, किसी भी दार्शनिक प्रणाली का अनुगमन कर सकता है, किन्तु जहाँ वह अपनी विशेष प्रणाली को बौद्धिक ढंग से पद्य मे प्रस्तुत करता है या छन्दबद्ध विज्ञान लिखने लगता है या पद्यात्मक उपदेश या धार्मिक विवाद हम पर लादने लगता है, वहीं वह काव्य के नियमो का अतिक्रमण करने लगता है। (यद्यपि अक्सर यह भी किया गया है और इसमे आंशिक या कभी-कभी पूरी सफलता भी मिली है।) फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान के सभी अंगो का अन्तर्व्यापी सत्य अलग नहीं है, दर्शन, धर्म और विज्ञान आदि के प्राथमिक नियम, प्रणाली और क्षेत्र अलग हैं; किन्तु अपने गहनतम स्तरो मे उतरकर वे एक-दूसरे के निकट पहुँचकर एक-दूसरे को स्पर्श करने लगते है और इसी नैकट्य के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति मे दर्शन, अध्यात्म-विज्ञान और धर्म आदि एक अनिवार्य एकता मे अन्तर्ग्रथित थे और जब कभी वे अपने अन्तर्सत्य को प्रकट करना चाहते थे तो काव्यात्मक वाणी का आश्रय ग्रहण करते थे। किन्तु फिर भी मानव-चेतना एक विराट् शिखर है और इन विभिन्न क्षेत्रो और पगडण्डियो का मिलन-स्थल नीचे की घाटी मे नही वरन् ऊपर शिखर पर है। उन्होने एक ओर कविता की भी अपनी सीढ़ियाँ

है और अपना चढाव है जो नीचे सबसे पृथक् और ऊपर सबसे मिला हुआ है। वेदों में एक स्थान पर प्रतीकमयी शैली में इसी असीम सत्य की धारा का वर्णन किया गया है, जिसके चारो ओर चिन्तन और जीवन की ज्योतिर्मय शक्तियाँ स्थित हैं। वहाँ उनका दिव्य नृत्य होता है। उस मण्डल में अपने जाग्रत मानस के साथ प्रवेश पाने वाला ही द्रष्टा कवि है और उसीको 'प्रेरित-वाक्' या 'मन्त्र-शक्ति की उपलब्धि होती है।

मन्त्र-शक्ति से समन्वित यह काव्य जीवन का लयात्मक उद्‌घोष है, किन्तु वह उद्‌घोष ऊपरी सतह की छोटी लहरों का नहीं है, अतल गहराई की सशक्त अन्तर्धाराओं का है। देश-विदेश की समस्त नई कविता में जो कुछ महत्त्वपूर्ण और स्थायी है, उसकी प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है; वही स्थायी है, शेष क्षणिक है।

प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि ऐसी कविता का बहुत सा अंश अत्यन्त दुरूह है, मानव के दैनिक अस्तित्व की निकटतम सामयिक यथार्थताओं से निरपेक्ष, निस्संग और असम्पृक्त है। लेकिन इस आक्षेप को प्रश्रय देने का अर्थ है कि हम इस कविता की मुख्य उपयोगिता नहीं समझ रहे है। निरन्तर विस्तृत होते हुए युग-मानस के प्रति जीवन-चेतना जिस प्रकार अपने को निवेदित करना चाहती है, उसकी सूक्ष्मता को भी हम हृदयंगम नहीं कर रहे हैं। यह ठीक है कि इन नये कवियों ने अपना कार्य पूर्णतः सम्पन्न नहीं कर लिया है और न अभी विराट काव्यात्मक समन्वय तक ही पहुँचे हैं। उनका यह कार्य है कि वे एक नवीन और गहनतर जीवन-दृष्टि का विकास करें, मनुष्य के मानस, आत्मा और प्राण तथा अनन्त और शाश्वत सत्य के मध्य युगदर्शी प्रकाश और लय के सबल सेतुओं का निर्माण करें। भविष्यत्-काव्य अपने इन प्रारम्भिक प्रयासों से उबरकर नई और अधिक विस्तृत घाटियों में पहुँचेगा, उन अथाह गहराइयों को मापेगा जिनको अभी तक नहीं मापा गया। यह महत्कार्य आज ही, तुरन्त नहीं सम्पन्न हो सकता, लेकिन यदि आज की कविता इस कार्य का श्रीगणेश भी कर देती है, तो एक पूरे युग को महत्ता प्रदान करने के लिए इतना ही यथेष्ट है।

इस काव्य की प्रकृति के सम्बन्ध में और दो-एक बातों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। वे आलोचक, जो कविता से जीवन के प्रत्यक्ष, स्पष्ट और यथार्थ यथातथ्य चित्रण की माँग करते हैं, एक भ्रमपूर्ण धारणा के शिकार हैं। न केवल काव्य वरन् मानव-मन की किसी भी चिन्तना—यहाँ तक कि विश्लेषण और वैज्ञानिक विचार को भी दृश्य जगत् की बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण करके उन्हें मानसिक दृष्टि के अनुशासन में लाना पडता है। किन्तु कवि की सृजन-शक्ति इससे भी आगे है। वह न केवल नई सृष्टि करती है प्रत्युत वर्तमान वस्तुओं को भी एक नया रूप और नये गुण प्रदान कर सकती है।

भविष्यत्-काव्य अपने को उन बाह्य यथार्थताओं से पूर्णतया आबद्ध नहीं कर सकता जिन्हें हम भ्रम से जीवन की सम्पूर्णता मान बैठे हैं। बाह्य यथार्थ और दृश्यमान जगत् बहुत दिनों तक हमारे अनुभव में पृथक् सत्ता नहीं बनाये रख सकते, क्योंकि आध्यात्मिक और मानसिक जगत् से उन्हें पृथक् करने वाली दीवारें धीरे-धीरे टूट रही हैं। बाह्य और अन्तर का अधिक व्यापक क्षेत्र, जो हमारी अनुभूति में सर्वथा वास्तविक होगा, भविष्यत्-काव्य का वस्तु-तत्त्व रहेगा। भविष्यत्-काव्य हमारी भविष्यत्-अनुभूति की वाणी होगा और भविष्यत्-अनुभूति विराट् की व्यापकतर और सम्पूर्णतर जीवन की अनुभूति होगी।

किन्तु जब तक यह नूतन सत्यान्वेषी दृष्टि आनन्द और सौन्दर्य की चेतना से अभिषिक्त नही होगी तब तक काव्य-दृष्टि मे सम्पूर्णता नही आयगी। कवि के लिए सौन्दर्य और आनन्द का देवता चन्द्रमा, सत्य के देवता सूर्य से अधिक आवश्यक है। वेदो मे चन्द्रमा का प्रतीक देवता सोम ही रस का अधिष्ठाता है—इस मधुमती सोमलता को चॉदनी से नहाये हुए अनुभूति के निर्जन शिखरो पर ही पाया जा सकता है। इसीसे नि सृत द्रव मादक मधु और जीवनदायी अमृत या रस होता है और इस सोम रस के बिना देवताओ को भी अमरता नही मिली थी। आज का युग बौद्धिक संघर्षो से ध्वस्त युग है, किन्तु इसमे आनन्द की उपलब्धि असम्भव नही। हमारी ऊपरी स्तर की चेतना को विभिन्न वस्तुऍ और अनुभूतियॉ चाहे-जैसी लगे पर प्रत्येक वस्तु और अनुभूति अन्तर्निहित एक गहन आनन्द-भावना और सौन्दर्याभिव्यक्ति होती है। यही गूढ़ आध्यात्मिक आनन्द की भावना काव्यानन्द और काव्य-सौन्दर्य की मूल पीठिका है।

इस आनन्द को कवि जहॉ चाहे, जब चाहे, यथार्थ जीवन और अनुभूतियो से योही ग्रहण नही कर सकता। कवि का व्यक्तित्व द्विविध होता है। जीवन और अस्तित्व के प्रति उसकी प्रतिक्रियाऍ भी दोहरी होती है। उसमे एक वह व्यक्ति होता है जो जीवन-प्रक्रिया मे निमग्न होता है, जो अन्य लोगो की ही भॉति सोचता है, अनुभव करता है, कर्म करता है—और दूसरी ओर उसमे अन्तर्द्रष्टा होता है जो असाधारण मानव होता है, आनन्द पुरुष होता है, जो सौन्दर्य और आनन्द के मूल स्रोतो से संयुक्त रहता है और विशेष रासायनिक प्रक्रिया से समस्त अनुभवो का आनन्द-प्राण कर देता है। प्राचीन भारतीय परम्परा मे काव्य के इसी सत्व को रस कहा गया था। न केवल भारतीय किन्तु जिन इतर-देशीय संस्कृतियो ने इस रस की उपलब्धि की थी, उनमे सौन्दर्य के प्रति वह गुह्य किन्तु साधारणीकृत पिपासा थी जो परवर्ती युग-मानस से धीरे-धीरे लुप्त हो गई। किन्तु हमे एक बार पुनः उस गंगा को भगीरथ प्रयत्नो द्वारा अवतरित करके सामान्य जन-मानस को उस आनन्द से अभिसिञ्चित करना है। भविष्यत्-काव्य का एक पावन कर्तव्य यह भी होगा।

: ४ :

काव्य के प्राणो मे अन्तर आते ही उसकी देह मे भी अन्तर आयगा। उसका रूप बदलेगा, शिल्प-विधान मे परिवर्तन होगा। किन्तु जब काव्य-मानस एक नई आत्मा—भूमि मे प्रवेश करेगा तो यह आवश्यक नही कि पुराने काव्य-रूपो को पूर्णतया परित्यक्त करके सर्वथा नये और अपरिचित रूप ग्रहण किये जायॅ। अधिक सम्भव यह है कि पुराने रूपो मे नई सम्भावनाऍ प्रतिष्ठित की जायॅ और उन्हींकी प्रकृति मे आन्तरिक परिवर्तन लाया जाय। काव्य-सृजन के प्रमुख क्षेत्रो मे—गीतो मे, नाटको मे, प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यो मे एक नई परम्परा का सूत्रपात होना अनिवार्य है।

भविष्यत् गीति-काव्य का रूप हृदयगम करने के लिए गीति-काव्य की परम्परा पर दृष्टि-पात करना आवश्यक है। गीति-प्रेरणा सम्भवतः काव्य-सृजन की मौलिक प्रेरणा रही है। आदिम साहित्य मे जब जीवन-शक्ति की प्रत्यक्ष गति भावपूर्ण काव्याभिव्यक्ति की प्रमुख प्रेरणा थी तब तक [illegible]-प्रेरित गीतो की अधिकता थी। बुद्धि-प्रधान युगो मे गीतों की धारा मन्द पड़ जाती है। क्योंकि निर्मम बुद्धि या चिन्ता जीवन की आदिम निश्चिन्तता को नहीं आत्मसात्

कर पाती और न अपनी चिन्ता-ग्रस्त वाणी मे उसकी स्मृति को ही लौटा पाती है। प्राचीन क्लासिकल युग मे यही स्थिति मिलती है। गीतों के पुनरावर्तन के लिए पुनः रोमाण्टिक युग और रोमाण्टिक भावना की प्रतीक्षा करनी पडती है। उस समय कवि अपनी कल्पना द्वारा पुराने गीति-रूपो और सरल जीवन-गति की ओर लौटने का प्रयास करता है। किन्तु उस समय तक काव्य-मानस बौद्धिकता के कई युगो से गुज़र चुकता है। गीतों की सहजता भी एक विकसित बुद्धियुक्त काव्य-मानस की आरोपित सहजता होती है। परिणामस्वरूप ऐसी कृतियाँ सम्मुख आती हैं जिनमे सौन्दर्य-चेतना को सन्तोषजनक सफलता मिली हैं, किन्तु फिर भी आदिम काल की मौलिक गीति-प्रतिभा की उससे तुलना नहीं की जा सकती। भविष्यत्-काव्य में बुद्धि से परे आत्मा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति एक नये प्रकार की मनोभूमि का सृजन करेगी जिनमे न ऊपरी स्तर की भावभूमि की गीति-प्रेरणा होगी और न चिन्तन-मानस का गीति-विरोधी विक्षोभ। भविष्यत्-काव्य का एक आवश्यक और निर्णयात्मक चरण यह भी होगा कि उसे इस सत्य की उपलब्धि हो चुकेगी कि काव्य-रूप वस्तु-तत्त्व का निर्णय नही करता वरन् वस्तु-तत्त्व अपने लिए ऊर्णनाभ की भाँति रूप-विधान और 'शब्द' का निर्माण अपने अन्दर से करता है। कवि-चेतना मे यह स्थिर होने के उपरान्त जो गीतात्मक स्फोट होगा वह अवर्णनीय है।

इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यो मे भी यह कायाकल्प होना अनिवार्य है। साधारण विवरण, या जीवन का यथार्थ चित्रण, या किसी एक मानसिक या नैतिक भाव-धारा का विकास-मात्र उसके लिए यथेष्ट नही होगा, उसका तत्त्व वास्तविक होगा और अर्थों का स्तर आत्मा की गहनता मे आश्रित होगा। उसकी कार्य-श्रृङ्खला केवल बाह्यार्थक न होगी, वातावरण भी उनके आन्तरिक अर्थ को व्यक्त करने के लिए ही गुम्फित होगा। महाकाव्य भी प्रबन्ध-परम्परा की व्यापक पृष्ठभूमि और उच्च स्तर की कृति है। अक्सर उसे आदिम काल से सम्बद्ध माना जाता है, किन्तु यह केवल बाह्यस्थिति को आन्तरिक प्रकृति का स्थानापन्न मान लेने की भ्रमात्मक धारणा है। भविष्य के स्वर मे आत्मिक जीवन के महाकाव्य गुञ्जरित होंगे।

जिस प्रकार के युग-परिवर्तन की आशा है वह न केवल काव्य-रूपो मे नूतन विकास उपस्थित करेगा, वरन् भाषा-शैली और लय-विधान में भी सूक्ष्म परिवर्तन प्रस्तुत करेगा। भाषा के पुराने अभ्यास नये प्राणो को नही समेट सकते। या तो वे अपने को विस्तार दें या और गहन बनाएँ, या पूर्णतया कायाकल्प कर लें, अन्यथा वे टूट-फूट जायँगे और उनके स्थान पर नये तत्त्वों की प्रतिष्ठा होगी। वेदो मे कहा गया है कि ब्रह्मा ने 'शब्द' से लोकों की सृष्टि की। कवि की सृष्टि भी शब्द-सृष्टि है। बाह्य दृष्टि से शब्द केवल शरीरोद्भूत ध्वनि-मात्र हैं, जिन्हे प्रज्ञा द्वारा अधिक अर्थवान् बना लिया गया है। किन्तु यदि हम आन्तरिक विश्लेषण करें तो पायँगे कि कोई चैतन्य-शक्ति शब्दो को प्राण, मार्मिकता, अर्थ और अस्तित्व प्रदान करती है। यही शक्ति है जिसे वैदिक ऋषियो ने 'वाक्' की संज्ञा प्रदान की थी। तान्त्रिको का कहना था कि मेरुदण्ड के विभिन्न चक्रो मे वाक् का विकास होता है और कवि की वाणी को चतुर्थ स्थिति अर्थात् पश्यन्ती तक पहुँचना है—पश्यन्ती अर्थात् वह शब्द, जिसमे दृष्टि भी है, वह गिरा, जिसके नयन भी है।

: ५ :

अतः भविष्यत्-काव्य को काव्य-भाषा की एक सर्वथा नवीन समस्या सुलझानी है। उसे अत्यन्त

गहनतम अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए नये प्रतीक ढूँढने है। हम नई कविता का जो आन्दोलन देख रहे है वह एक बहुत महान् आन्दोलन की भूमिका-मात्र है। वह आन्दोलन—जो समस्त मानव-जीवनकी एक नवीन व्याख्या देने की ओर प्रयासशील है। युग-मानस मे जो परिवर्तन हो रहे हैं, अन्तर्दृष्टि जिस प्रकार विकसित हो रही है, मनुष्य के 'स्व' और वस्तुओं के 'स्व' मे, पुरुष और प्रकृति मे जो तादात्म्य स्थापित हो रहा है—कवि को इन समस्त नवीनतम अनुभूतियों के लिए भाषा का निर्माण करना है, उसे नये उपमान और नये प्रतीक खोजने हैं—उनका प्रयोग भी एक नये ढंग से करना है, जिनमे वे प्रतीक मूल प्रेषणीय सत्यों के आवरण न बन जायँ वरन् काव्यानुभूति और श्रोता की ग्रहण-शक्ति के मध्य नये सेतु बन सके।

इसी प्रकार दिक् और काल के आकलन मे भविष्यत्-काव्य का एक नया स्वभाव होगा। जब तक वह गूढ शाश्वत सत्यों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार न करता हो तब तक अधिकतर उसकी दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित होगी और भविष्य उसका लक्ष्य होगा। मानव-जाति की वर्तमान अवस्था और भावी भाग्य-निर्णय उसकी प्रमुख समस्या होगी। उसके लिए अतीत और वर्तमान दोनों ही भविष्यत् के अर्द्ध विकसित, अपरिपक्व प्राथमिक रूप-मात्र होगे और भविष्य मनुष्य के अन्तर्निहित ईश्वरत्व के विकास का स्वर्ण-युग होगा।

वास्तव मे भविष्यत्-काव्य मानवता पर अवतरित होने वाला एक नूतन विराट् दर्शन है। वे जातियाँ, जो इस दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात् करेगी, अपनी जीवन-प्रक्रिया और सांस्कृतिक चेतना को इसकी ज्योति से आलोकित करेगी वे ही भावी-युग की महा शक्तियाँ बन जायँगी और जिस किसी भी भाषा के कवि इस विराट् दर्शन को आन्तरिक दृगों से पूर्णतया ग्रहण कर सकेंगे और इसीसे अनुप्रेरित वाणी की साधना करेंगे वे ही भविष्यत्-युग के अमर स्वरकार होंगे।

मूल्यांकन

डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। किन्तु अपने आकार की विशालता तथा भाषा की दुरूहता के कारण इसका यथोचित रीति से प्रचार नहीं हो सका है। यद्यपि यह हिन्दी की उच्चतम कक्षाओं के पाठ्य-क्रम मे देश के प्रायः समस्त विश्वविद्यालयो मे रखा हुआ है, किन्तु आंशिक रूप मे ही—कहीं पर कोई समय निर्धारित है तो कहीं पर कोई। प्रकट है कि ६६ समयो के ग्रन्थ का यह आंशिक अध्ययन उसका ठीक-ठीक परिचय नहीं दे सकता। इतना ही नहीं, वह उसका गलत परिचय भी दे सकता है यदि वह ग्रन्थ के प्रक्षिप्त अंशो मे का हो—और ग्रन्थ के समस्त अंश प्रामाणिक है यह अभी तक प्रमाणित नही हो सका है। ऐसी दशा मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री नामवरसिंह का 'पृथ्वीराज रासो' का एक संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास निस्सन्देह श्लाघ्य है। आरम्भ मे द्विवेदी जी द्वारा लिखित एक संक्षिप्त भूमिका है, और अन्त मे दो परिशिष्ट है, जिनमे से प्रथम परिशिष्ट मे श्री नामवरसिंह जी द्वारा 'रासो-काव्य की परम्परा', 'पृथ्वीराज रासो की प्रतियाँ तथा रूपान्तर', 'पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता', 'पृथ्वीराज रासो का काव्य सौष्ठव', 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' तथा 'भाषा-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ' शीर्षकों के अन्तर्गत ग्रन्थ के विषय मे संक्षिप्त ऐतिहासिक और साहित्यिक विवेचन है, और दूसरे परिशिष्ट मे 'शब्दार्थ' है। ये अंश संक्षिप्त होने पर भी विद्यार्थियो और साधारण पाठको के लिए उपयोगी हैं। शब्दार्थ-सम्बन्धी परिशिष्ट कुछ और पूर्ण होता तो अच्छा था, क्योंकि ग्रन्थ के अनेकानेक कठिन और आवश्यक शब्द उसमे आने से रह गए है। किन्तु हो सकता है कि इनमे से कुछ इसलिए रह गए हो कि उन्हे सम्पादकों ने सरल समझा हो, और कुछ इसलिए रह गए हों कि उनका अर्थ स्पष्ट न हुआ हो, अथवा उनका पाठ सन्दिग्ध हो। इस पिछली परिस्थिति मे जबरदस्ती कोई अर्थ देने की अपेक्षा यह अच्छा ही होता है कि मौन रहा जाय।

किन्तु इतना ही नहीं, यह संक्षिप्त संस्करण इस विश्वास के साथ भी प्रस्तुत किया गया है कि चन्द की मूल रचना कुछ इसीके आस-पास होगी।[1] और इसीलिए संकलन निम्न लिखित स्थापनाओं के आधार पर किया गया है :

१. 'भूमिका' में

१. "उन दिनों कथाएँ दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखी जाती थीं। चन्द ने भी रासो को शुक और शुकी के संवाद के रूप मे लिखा था।"

२. "चन्द बरदाई का यह काव्य 'रासक' भी है, जो गेय-काव्य हुआ करता था, जिसमे मृदु और उद्धत प्रयोग हुआ करते थे।"

३. "'सन्देश रासक' की एक उक्ति तथा एक दो प्राकृत गाथाएँ भी रासो में पाई जाती हैं।"

४. " 'सन्देश रासक' में बीच-बीच मे कवि सूचना देता है कि अमुक पात्र ने अमुक छन्द में अपनी बात कही। उसी प्रकार रासो में भी बीच-बीच मे कर दिया गया है।"

५. "वीर रस की प्रधानता होने के कारण चन्द ने छप्पय छन्दों का प्रयोग अधिक किया था, इस दृष्टि से निम्न लिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं—(१) आरम्भिक अंश, (२) इञ्छिनी विवाह, (३) शशिव्रता का गन्धर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इञ्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता। इन अंशों मे भाषा मे उस प्रकार की बेडौल और बेमेल ठूँस-ठाँस नहीं है और कवित्त का सहज प्रवाह है।"

६. "इन अंशों में चन्द केवल कल्पना-विलासी कवि ही नहीं, निपुण मन्त्रदाता के रूप मे भी सामने आते हैं।"

७. "साधारण भारतीय कथाओं में, कथाओं को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिए कुछ (जो बताई गई हैं) कथानक-रूढ़ियों का व्यवहार हुआ है। लगभग इन सभी कथानक-रूढ़ियो का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो' में किया गया है।"

८. "शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परम्परा-प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहारे ही निखरी है।"

९. "अधीनस्थ सामन्तो की स्वामि-भक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप मे प्रकट हुआ है।"

१०. "छन्दों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है, पर कहीं भी अस्वाभाविकता नही आई है। १२वीं-१३वीं शती के अपभ्रंश-साहित्य में छन्दों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था।"

११. "वर्तमान रासो में युद्धों का प्रसंग बहुत अधिक है और शहाबुद्दीन तो इसमे हर मोड़े-देमोके अनायास आ पड़ता है। अधिकतर भट्ट भणन्त और गलत तिथियो का हिसाब ऐसे प्रसंग में ही आता है। ऐसा करने में कुछ भी संकोच नहीं मालूम पड़ता कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कमधुज्ज के सरदारों के नामों की सूची आदि बातें परवर्ती ठूँस-ठाँस हैं।"

१२. "इधर रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है और पण्डितों मे यह जल्पना कल्पना आरम्भ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों में से कोई रासो का मूल रूप है या नहीं। अभी तक इन संस्करणों का जो-कुछ विवरण देखने में आया है, उससे तो ऐसा ही लगता है कि ये सब संस्करण रासो के संक्षेप रूप ही हैं।"

अतः रासो के मूल पाठ-निर्धारण की दृष्टि से इन स्थापनाओं पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा।

कथाओं का संवादों के रूप में होना इस विषय में कोई विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता, इसकी पुष्टि में इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि पैंतालीसवें समय में संयोगिता के अवतार ग्रहण करने की जो कथा है वह भी इसी प्रकार शुक-शुकी संवाद के रूप में है, किन्तु उसे द्विवेदी जी ने स्वतः प्रक्षिप्त माना है[1] और इस संस्करण में स्थान नहीं दिया है। पुनः 'रासो-परम्परा' में यह संवाद-रूढि व्यापक रूप से मान्य भी नहीं थी, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' के निकट समसामयिक 'बीसलदेव रासो' में ही यह रूढि हमें नहीं मिलती।

जहाँ तक रासक-काव्यों के गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोगयुक्त होने का प्रश्न है, वह अंश भी, जो इस संस्करण में नहीं सम्मिलित किया गया है, गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोग-युक्त है।

'संदेश रासक' की कोई उक्ति यदि रूप बदलकर आ गई है तो आश्चर्य न होना चाहिए—यह तो बहुधा हुआ करता है, किन्तु उसकी जो दो प्राकृत गाथाएँ रासो में आ गई हैं वे तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त होंगी, क्योंकि कोई भी— साधारण-से-साधारण प्रतिभा का कवि भी— ऐसा न करेगा कि अपने हजारों छन्दों के काव्य में दो-चार छन्द किसी पूर्ववर्ती कवि की रचना से ज्यों-का-त्यों लाकर रख दे। इस प्रकार की बातें प्रायः पाठकों के द्वारा होती हैं यदि प्रसंगोपयोगी अथवा मिलती-जुलती उक्ति वाले कोई छन्द उन्हें स्मरण रहते हैं, तो वे प्रायः उन्हें हाशियों में लिख लेते हैं और इसके अनन्तर प्रतिलिपिकार प्रायः उन्हें मूल पाठ में सम्मिलित करके उतार लेते हैं।

छन्दों और उनके लक्षणों के उल्लेख उन अंशों में भी मिलते हैं जो इस संस्करण में सम्मिलित नहीं किये गए हैं—यथा 'रेवा-तट समय' में।

छप्पय निस्संदेह इन अंशों में प्रमुख हैं, किन्तु अन्य अंशों में भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, और सम्पादकों ने इन अंशों के अतिरिक्त भी कुछ अंशों को संस्करण में सम्मिलित किया है—यथाः बड़ी लडाई समय और बान बेध समय। और वही बात, जो ऊपर छन्दों के सम्बन्ध में कही गई है, भाषा-शैली के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

जहाँ तक चन्द के निपुण मन्त्रदाता होने का प्रश्न है, वह भी केवल संकलित अंश में नहीं, शेष अंश में भी उसी प्रकार और लगभग उतनी ही मात्रा में पाया जाता है।

कथानक-रूढियों का प्रयोग तो अभिन्न रूप में और कदाचित् कुछ अधिक मात्रा में ही उस अंश में भी पाया जाता है जिसे सम्पादकों ने ग्रहण नहीं किया है। ठीक यही बात काव्य-रूढ़ियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इन रूढियों का आधार कितना कच्चा है, यह स्वतः द्विवेदी जी के इन शब्दों से प्रकट होगा : **"परवर्ती-काल में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है, वे चन्द की इस प्रवृत्ति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे; इसीलिए प्रक्षेप करने वालों ने चुन-चुन करके कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों का सन्निवेश किया है।"**[2]

अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम उतने ही उज्ज्वल रूप में उस अंश में

१. 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' पृष्ठ ६४-६५।

२. 'भूमिका' में

भी प्रकट हुए हैं जितने उज्ज्वल रूप मे वे गृहीत अंश मे प्रकट हुए है।

छन्द-परिवर्तन की शैली के सम्बन्ध मे भी वही बात लागू होती है और इस सम्बन्ध मे भी द्विवेदी जी के शब्दो को उद्धृत किया जा सकता है : "अत्यधिक प्रक्षेप होते रहने के बाद भी 'पृथ्वीराज रासो' मे यह (छन्दो बहुला) प्रथा सजीव रूप मे वर्तमान है। अनुकरण करने वालो ने भी चन्द की शैली को ठीक रूप मे पकडा है और वर्तमान रूप में भी रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त मे प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"[1]

द्विवेदी जी का यह कथन अवश्य ठीक जँचता है कि वर्तमान रासो मे युद्धो का आधिक्य, विशेषतः शहाबुद्दीन का मौके-बेमौके अनायास आ पडना, प्रक्षेप-जनित ही ज्ञात होता है। युद्धो का अनावश्यक विस्तार और उनमे आई हुई सामन्तो की नामावली आदि तो प्रकट ही भट्ट-भणन्त प्रतीत होते है।

किन्तु सबसे अधिक विचारणीय बात अन्तिम है—क्या प्रकाशित बृहत् पाठ के अतिरिक्त पाये गए 'पृथ्वीराज रासो' के मध्यम, लघु, और लघुतम पाठ क्रमशः अथवा स्वतन्त्र रूप से उसके सक्षेप-मात्र है। निस्संदेह कुछ विद्वानो ने यह विचार उपस्थित किया है, किन्तु वास्तव मे इस विचार का कोई दृढ आधार नही है, यह केवल एक अटकल है और ऐसी अटकल; जिस पर किसी भी समझदार आदमी को सहसा विश्वास न कर लेना चाहिए।

इस अटकल का आधार, जहाँ तक प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है, इतना ही है कि इन छोटे-से छोटे पाठो मे भी कुछ-न-कुछ अनैतिहासिक बाते मिलती ही है। किन्तु किसी रचना मे अनैतिहासिक बातें मिलना ही उसको अप्रामाणिक भी नहीं बना देता। कोई भी रचना अपने मूल रूप मे सुरक्षित हो सकती है और उसमे भी अनैतिहासिक बाते मिल सकती है। प्रस्तुत लेखक की समझ में 'पृथ्वीराज रासो' का सबसे बड़ा अपकार इस विचार ने किया है कि यह पृथ्वीराज के समकालीन किसी व्यक्ति की रचना है। इस संस्करण के सम्पादको का भी यही विचार है। द्विवेदीजी इसमे पाई जाने वाली काल्पनिक बातों के समावेश का कारण काव्य की आवश्यकताओ को मानते है।[2] किन्तु सोचने की बात है कि किसी भी समसामयिक—विशेष रूप से आश्रित कवि को क्या पडी थी कि वह नायक की माता तक का नाम बदल देता। कर्पूरदेवी नाम मे—जो सभी प्रकार से इतिहास से प्रमाणित है—ऐसी कौन-सी खराबी थी कि कोई भी समकालीन और जिम्मेदार कवि उसके स्थान पर 'कमला' कर देता? किसी भी ऐसे कवि का काव्य का ऐसा कौनसा उद्देश्य सिद्ध हो सकता था नितान्त अनर्गल तिथियाँ और विस्तार देने मे? यह सही है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' मे कुछ छन्द इस ग्रंथ के मिल जाते हैं। किन्तु इतने से ही यह प्रमाणित नहीं होता कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज का आश्रित अथवा उनका समसामयिक था। जैसा कि सम्पादकों ने माना है?[3] स्वतः सम्पादको ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के उन तीन छन्दो मे से, जो 'पृथ्वीराज रासो' में भी पाए जाते है, केवल एक को 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' ने स्थान दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि शेष दो को वे कदाचित् प्रामाणिक नही मानते है। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि 'पुरातन प्रबन्ध-

१. 'भूमिका' में।

२. वही।

३. भूमिका तथा परिशिष्ट।

संग्रह' में उद्धृत छन्दयुक्त पृथ्वीराज और चन्द-सम्बन्धी कोई रचना पन्द्रहवीं शताब्दी तक बन चुकी थी।

वस्तुतः यह सारा-का-सारा प्रश्न पाठ-विज्ञान का है। विभिन्न पाठों की प्रतियाँ मिलने पर पाठ-विज्ञान के सिद्धान्त की सहायता से यह सर्वमान्य रूप से निश्चय पूर्वक बतलाया जा सकता है कि ग्रन्थ के जो चार विभिन्न पाठ मिलते हैं उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है कौन किसका पूर्वज है और वह पूर्वज मूल पाठ के कितना निकट माना जा सकता है, अथवा कोई किसी का पूर्वज नहीं है—सभी एक सामान्य पूर्वज की सन्तानें हैं और वह सामान्य पूर्वज कवि का मूल पाठ हो सकता है या नहीं। किन्तु यहीं पर हिन्दी के सम्पादन-कार्य की सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है। जिनके पास आवश्यक प्रतियाँ हैं, वे इस कार्य के लिए उन्हें देना नहीं चाहते, विशेष रूप से उस समय जब कि उस सामग्री के आधार पर स्वतः कभी फुरसत से आगे-पीछे कुछ करना चाहते हैं। ऐसी दशा में प्रस्तुत के समान प्रयासों के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए कोई चारा नहीं रह जाता और प्रतियों का आधार लिये बिना एक से अधिक पाठों वाले किसी भी ग्रन्थ के निर्धारित पाठ के विषय में उपर्युक्त प्रकार की शंकाएँ बनी रह जाना स्वाभाविक है। फलतः हम 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' के रूप में इस प्रयास का हृदय से स्वागत करते हैं। यह प्रयास सम्पूर्ण रासक-परम्परा के गहरे अध्ययन का परिणाम है और इस कारण इसके सम्पादकगण हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

●

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

महाकवि सूरदास

'महाकवि सूरदास' में महात्मा सूरदास के व्यक्तित्व और कवित्व का मूल्यांकन है। इस दिशा में अनेक ग्रन्थ अब तक लिखे गए हैं, पर उन सबसे भिन्न इसकी विशेषताएँ हैं और इसमें कोई ऐसी पुनरुक्ति नहीं जो इस ग्रन्थ के मूल्य या महत्त्व को कम करने वाली हो। लेखक ने प्रायः सूर के अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री का स्वमत-पुष्टि या वैषम्य के स्थलों में बराबर उल्लेख किया है। परन्तु एक यह बात खटकती है कि इस दिशा में लिखे गए दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का कहीं भी किसी रूप में इसमें उल्लेख नहीं; वे हैं—'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'[2] और 'सूरदास'[3]। जान पड़ता है कि वाजपेयी जी ने इन्हें देखा नहीं, अन्यथा अपने 'जीवनी और व्यक्तित्व', 'काव्य-सौन्दर्य', 'दार्शनिक पीठिका'-जैसे प्रसंगों में वे इनका उल्लेख अवश्य करते, क्योंकि इन विषयों पर इनमें विस्तृत विवेचनाएँ हैं। मेरी दृष्टि में उनका उपयोग आवश्यक था। इतना होते हुए भी इस पुस्तक

---

१. लेखक—डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

२. लेखक डॉक्टर दीनदयाल गुप्त

३. लेखक डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा

मे विश्लेषणात्मक अध्ययन और तथ्य-उद्घाटन का प्रयत्न इतना गम्भीर है कि महाकवि सूरदास के अध्ययन मे यह एक ठोस पृष्ठभूमि ही नही, वरन् एक आलोकपूर्ण दृष्टि प्रदान करती है।

पुस्तक का नाम है 'महाकवि सूरदास'। सूरदास के महाकवि होने मे शायद किसी को शंका न हो, पर 'सूर सागर' को 'महाकाव्य' कहना विवाद से शून्य नही। प्रबन्धात्मक न होने पर भी 'सूर सागर' मे महाकाव्य-सुलभ क्षेत्र, भावभूमि, चित्रण, विशाल दृष्टि आदि की कमी नही है। और इसका कही भी संकेत न होना केवल इस बात का ही द्योतक सिद्ध होता है कि लेखक इस पक्ष मे किसी प्रकार की शंका या मत-वैषम्य की आशा नही रखता। इतना ही नही समस्त पुस्तक पर दृष्टिपात करने से पुस्तक मे महाकवित्व-प्रधान दृष्टि नही, वरन् इस महाकवि के काव्य के अध्ययन के लिए उपयोगी पृष्ठभूमि और दृष्टि प्रदान की गई है। अतएव शीर्षक को देखते हुए यह कमी भी इसमे खटकती है।

प्रथम अध्याय मे भक्ति के विकास का अध्ययन है। इसके अन्तर्गत लेखक ने भक्ति-सम्बन्धी विशाल भारतीय साहित्य का अध्ययन करके उसके विकास को स्पष्ट किया है। वेदो मे भक्ति-सम्बन्धी तथ्यो का विश्लेषण, ब्राह्मण-काल मे भक्ति का स्वरूप, उपनिषदो मे भक्ति और उपासना का स्वरूप तथा विष्णु को मनुष्य के अधिक सान्निध्य मे लाकर भक्तो के परम दैवत की स्थापना के प्रसंग बडे ही रोचक है। विस्तार-भय के कारण ही सम्भवतः उपनिषदो की रहस्यात्मक भक्ति-भावना पर अधिक नहीं लिखा गया है। इस प्रकार महाकाव्य और गीता-काल मे भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण है, जिसमे लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महर्षि वेदव्यास ने ऐसे धर्म की स्थापना की जिसमे वैदिक कर्मकाण्ड, उपनिषद्-शास्त्र-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग को तथा हृदय-प्रधान भक्ति को समान स्थान प्राप्त हुआ, जो भागवत धर्म है। इस प्रसग का विश्लेषण विस्तृत रूप से लेखक ने किया है कि गीता और भागवत द्वारा भक्ति का उत्कृष्ट विकास हुआ है। इनमें कर्म-फल-त्याग के साथ-साथ ईश्वर को सब-कुछ समर्पण की भावना की परिपुष्टि हुई है, जो सभी साधनों से श्रेष्ठ है और प्रेमाभक्ति के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करती है, जिसकी व्याख्या ही विशेष रूप से नारद और शाडिल्य भक्ति-सूत्रो मे हुई है तथा इसी स्वरूप का प्रतिपादन अनेक रूपो मे पौराणिक युग में हुआ। भागवत भक्ति के पूर्ण विकास को स्पष्ट करने वाला ग्रन्थ है, जिसका आधार लेकर आगे आचार्यों ने भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या की।

भक्ति-सम्बन्धी दार्शनिक सम्प्रदायो का उल्लेख द्वितीय अध्याय मे है। पृष्ठभूमि के रूप मे हिन्दी भक्ति-काव्य के अध्ययन के हेतु यह प्रसग बडा ही उपादेय है। इसके अन्तर्गत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विश्लेषण है और शंकराचार्य के मत से इसकी तुलनात्मक विवेचना भी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रसंग मे इस परम्परा मे आने वाले स्वामी रामानन्द की उपासना-पद्धति की भी चर्चा है। श्री निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद की भी विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, यह सब हमे सूरदास ही नहीं अष्टछाप के अन्य कवियो के विचार और भाव-धारा को समझने मे सहायक हैं। यह अध्याय हिन्दी के भक्ति-काव्य को हृदयंगम करने के लिए बडा उपयोगी है।

तीसरा अध्याय सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व पर है। इस प्रसंग मे 'सूर सागर' के

अतिरिक्त 'सूर सौरभ', 'हिन्दी-नवरत्न', 'अष्टछाप'[१], 'सूरदास'[२], 'सूर-निर्णय' आदि ग्रन्थो का उल्लेख है; परन्तु जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व की दिशा मे सबसे अधिक विस्तृत विवेचन और प्रामाणिक सामग्री का उपयोग करने वाले ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' का कोई उल्लेख नही और न 'सूरदास' ग्रन्थ का ही। डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा के 'सूरदास' मे जीवन-सम्बन्धी बाते अत्यन्त विस्तार के साथ दी गई है। हो सकता था कि वाजपेयी जी उनसे सहमत होकर उन्हे पुष्ट करते अथवा सहमत न होकर अपना कोई दूसरा दृष्टिकोण सामने रखते। अतएव इन दो पुस्तकों का उपयोग न करने से अब तक के अध्ययन मे इस प्रसंग द्वारा विकास प्रस्तुत नहीं किया जा सका। इनके उपयोग से कतिपय मत वैषम्य के स्थल भी साफ हो जाते—उदाहरणार्थ डॉ० गुप्तजी सूरदास जी का जन्म-संवत् वल्लभाचार्य जी के जन्म-संवत् के आधार पर सं० १५३५ मानते हैं, परन्तु वाजपेयी जी ने उन्हीं तर्कों को देते हुए सं० १५३० माना है। इसी प्रकार के अन्य कई स्थल है जिन पर वाजपेयी जी के अध्ययन द्वारा प्रकाश पडना आवश्यक था।

पुस्तक का चतुर्थ अध्याय 'आत्मपरक भावभूमि' अत्यन्त महत्त्व का है। यह हमे सूर-साहित्य को ही नही, वरन् समस्त कृष्ण-भक्ति-काव्य को समझने के लिए एक मापदंड प्रदान करता है। यह रीतिकालीन शृङ्गारी कृष्ण-काव्य से सूर-जैसे भक्त कवियो के कृष्ण-काव्य का अन्तर स्पष्ट करता है। वल्लभाचार्य का उद्देश्य दर्शन और भक्ति का समन्वय था। हिन्दी के भक्त कवियो ने भक्ति और काव्य का समन्वय कर दिया। इस बात को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है : "ज्ञान की इस मौन समाधि के समकक्ष (भक्तों के लिए तो उससे भी बढ़कर) भक्ति की मुखर समाधि की कल्पना आचार्य वल्लभ ने की, जो परम आनन्दमयी है।"[३] यह भक्ति की मुखर समाधि, भक्तिकाव्यामृत का प्रवाह ही है। इतना ही नहीं, दिव्य जन्म-कर्म वाले कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उपरान्त जो कृष्ण का नखशिख-सौन्दर्य-वर्णन है उसके द्वारा "कलाओं का शृंगार पवित्र हो उठा।" लेखक का निष्कर्ष है कि कृष्ण दूसरे कवियो के हाथ मे नायिकाओ के आमोद-प्रमोद, अष्टयाम और विलासमयी चेष्टाओ और वासनामयी भावनाओ के प्रेरक बन गए, किन्तु सूर के हाथ मे वे सर्वत्र पूत—सर्वत्र पावन—बने हुए है। भक्तिकालीन कवियो का महत्त्व सचमुच इस बात मे है कि उन्होने मानव की समस्त भावनाओ का विस्तार करके उन्हे राम-कृष्णमय बना दिया।

'दार्शनिक पीठिका' मे सूर-काव्य के आन्तरिक रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न है। यहाँ लेखक ने 'सूर सागर' के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्पष्ट किया है। इसमे प्रमुख मन्तव्य, यह सिद्ध करना है कि सूर की भक्ति भावुकता-मात्र से प्रेरित नहीं; वरन् ठोस दार्शनिक भूमि पर स्थित है। उनका भक्ति-मार्ग, दार्शनिक चिन्तनो के उपरान्त निश्चित किया हुआ जीवन-पथ है। प्रेमा-भक्ति का लक्ष्य, ज्ञानियो की मुक्ति नहीं; वरन् मुक्ति तो इन भक्तो के लिए कोई महत्त्व नही रखती। उनके लिए तो साधन और साध्य सब-कुछ भक्ति ही है।

'सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष' नामक अध्याय मे कतिपय आक्षेपो के उत्तर है। लेखक ने

---

१. डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित।

२. लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

३ 'महाकवि सूरदास' पृष्ठ ८४।

यह सिद्ध किया है कि गीता और भागवत दोनों में ही कृष्ण की तटस्थ भावना प्रधान है। दोनों में वर्णित कृत्य उनकी लीला है, केवल स्वरूप-भेद है। कृष्ण दोनों ही में निस्संग और निर्लेप हैं और इस दृष्टि से देखने पर ही कृष्ण-चरित्र के सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष को समझा जा सकता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण तो सराहनीय है; परन्तु आक्षेपों के उत्तर में उनकी व्यक्तिगत आलोचना, ऐसी गम्भीर पुस्तक में अधिक शोभनीय नहीं जान पड़ती।

जिस प्रकार उपर्युक्त अध्याय में नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उठी हुई शंकाओं का निवारण है उसी प्रकार 'प्रतीक-योजना' नामक अध्याय में सूर-काव्य-सम्बन्धी कुछ साहित्यिक शंकाओं का समाधान किया गया है। लेखक ने इसके भीतर कतिपय प्रतीकों (जैसे—होली, रास भँवरगीत, चोलीबन्द तोड़ना, वेणु-गीत आदि के भीतर का सौन्दर्य) को केवल लौकिक या केवल आध्यात्मिक रूप में एकांगी दृष्टि से नहीं, वरन् समन्वित दृष्टि से स्पष्ट किया है, जो महत्त्वपूर्ण है। हाँ, एकाध स्थलों पर वर्णन को न्यायोचित ठहराने का अधिक आग्रह आवश्यक नहीं दीखता।

'काव्य-सौन्दर्य' के प्रसंग में सर्वप्रथम सूर के वर्णन की कुछ असफलताओं का संकेत है जिनमें उन्होंने केवल रूढ़ि-पालन किया है और कोई भावात्मक सौन्दर्य उनमें नहीं आ पाया। इसके पश्चात् इसमें सूर-काव्य में आये कुछ वर्णनों के सौन्दर्य को स्पष्ट किया गया है और उनके भीतर के चित्रणों के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा है। परन्तु सूर के काव्य-सौन्दर्य का व्यापक और पूर्ण उद्घाटन इसमें नहीं हो पाया और इस दृष्टि से यह अन्य प्रसंगों से हीन है।

यह सब होते हुए भी 'महाकवि सूरदास' पुस्तक में जिन प्रसंगों को लिया गया है उनमें लेखक का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन पूर्णतया प्रकट है। बहुत-से ऐसे प्रसंग हैं जिनके अधिक विस्तार से विवेचन की आवश्यकता, इतनी पृष्ठभूमि देने के बाद अपेक्षित थी और जिनके अभाव में यह सूर-साहित्य के अध्ययन की भूमिका-रूप जान पड़ती है। परन्तु उनके न होने का कारण विस्तार-भय ही समझ पड़ता है। इस पुस्तक में प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा सूर-साहित्य के विद्यार्थियों को एक नवीन दृष्टि प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं।[1]

●

प्रभाकर माचवे

महायान

चीन-भवन के भदन्त शान्तिभिक्षु द्वारा लिखित और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भूमिका से समन्वित इस ग्रन्थ में ३० पृष्ठों की प्रस्तावना है, जिसमें बौद्ध धर्म का स्वाभाविक विकास तथा बौद्धों के प्रमुख प्रमुख सम्प्रदाय और उनके साहित्य की चर्चा है। उपनिषद्कालीन आदर्शवाद और बौद्ध धर्म की विद्रोही प्रतिक्रिया की समाज-वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की गई है, जो बहुत मूलगामी है। उदाहरणार्थ पृष्ठ ११[illegible] पर बुद्ध-मार्ग और ब्रह्म-मार्ग की यह तुलना देखिए :

१ लेखक—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

बुद्ध	ब्रह्म
क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लौकिक, पूरे तौर पर मानवीय;	क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लोकोत्तर, सर्वथा अमानवीय;
ख—बुद्ध के रूप का विस्तार, पूर्व जन्मो के विषय मे कहानियो की सृष्टि द्वारा	ख—ब्रह्म के सगुण रूपों के अवतारों द्वारा मानवों के बीच जन्म लेने का सिद्धान्त;
ग—बुद्धत्व-प्राप्ति जीवन का परम उद्देश्य और उसे पाने के लिए पारमिताओं का अभ्यास अनेक जन्मों तक करना;	ग—ब्रह्म तक लोग साधारणतया नहीं पहुँच सकते इसलिए लोगों के उद्धार के लिए स्वयं ब्रह्म का अवतार धारण करना;
घ—बुद्ध और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अभ्यास करनेवाले में क्षमा का परम स्थान, अपराधी के प्रति भी दया भाव, निरपवाद, अहिंसा का भाव।	घ—अपराधियों एवं अधर्मियों के प्रति अवतार की अक्षमता तथा उनका संहार।

इस प्रस्तावना मे आगम के मूल रूप और इतिहास पर बहुत अच्छी तरह विमर्श किया गया है। बाद मे चौदहवी शती के संगो-पा ने जाकर सूत्र और तन्त्र को एकात्म कर दिया ऐसा तिब्बती आधारो से पता चलता है, परन्तु वहाँ तक पुस्तक लेखक नहीं गया है। वह केवल महायान के आठवी शती के साहित्यिक प्रकारो तक ही प्रस्तावना मे अपने को सीमित करता है। परन्तु अन्तिम अध्याय उपसंहार मे जहाँ चौरासी सिद्धो के बाद निर्गुण-सगुण मतावली की चर्चा है, कबीर और तुलसी के रामो के रामत्व के भेद पर विचार है, वहाँ यदि सहजयान और वज्रयान के अद्वय और निर्गुण की, जिन्हे तिब्बती मे 'नि-मेय्' और 'येतेन्ट्रेल्बा' कहते है, चर्चा हो जाती तो उत्तम होता। तिब्बत मे इसीलिए तो बुद्ध को 'संघे' कहते है।

इस ग्रन्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है 'महायान-दर्शन'। इसमे महायान के जो आचार्य है उनके उपलब्ध मूलग्रन्थो की पूरी खोज-बीन और उनका पूरा निचोड विद्वान् लेखक ने उपस्थित किया है।

उन सन्दर्भ-ग्रंथो की छान-बीन से पता चलेगा कि भारत मे राहुल जी, कृष्णमाचार्य, ध्रुव, विधुशेखर भट्टाचार्य, वैद्य आदि को छोडे तो फ्रासीसी, रूसी और इतालवी विद्वानो ने ही इस दिशा मे अधिक काम किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस विद्वत्तापूर्ण कार्य का साराश हिन्दी मे प्रस्तुत करता है। दर्शन-चर्चा मे शून्य का प्राचीनतम उल्लेख, जो हीनयान निकायो मे मिलता है और बाद मे उसकी परिभाषा मे सब सिद्धान्तो के चरम खण्डनकार नागार्जुन द्वारा जो सूक्ष्म तर्क-प्रमाण प्रयुक्त किया गया, विचारणीय था। शून्य केवल किसी गुणावशेष का अभाव नहीं, परन्तु किसीगुण के आरोप की अपर्यवेक्षणीयता है, अप्रमेयता है। यों वास्तव विज्ञान से परे हो जाता है और ग्राह्य ग्राहक से भी परे। राइस डेविस ने इसकी चर्चा की है। परन्तु शान्तिभिक्षु उन विवरणो मे शायद जान-बूझकर नही गये हैं, अन्यथा पुस्तक बोझिल हो जाती। शून्य को तिब्बती 'तोम्पानी' मानते है, जो अद्वैत का पर्यायवाची है। माध्यमिको या 'उ-मा-पा' मे इसका अधिक प्रचार था। यो, तिब्बत मे जाकर बौद्ध-धर्म अपने निराशावादी रूप मे जरा भी नहीं मिलता। वह दुःख-पूजा शेष नहीं रहती और तृष्णा एक चमत्कारिक अपार शक्ति बन जाती है।

उपसंहार मे तुलसी के सगुणवाद की कुछ निर्भय आलोचना है। उस प्रसंग मे मुझे

आचार्य बरान्निकोव के तुलसी के समचौपाई रूसी पद्यानुवाद की भूमिका में लिखे एक तर्क की याद दिलाने की इच्छा होती है : 'इस ईश्वर-तत्त्व को तुलसीदास ने कहीं सच्चिदानन्द कहा है और कहीं 'अगुण', इसीकी वेद 'नेति' परिभाषा करते हैं, संसार में शरीर धारण करके आता है।'[1] और आगे सबसे मजेदार कारण वे देते हैं : "अगुण के सगुण होने का, अवतार की प्रेरणा का कारण है इन दीन-दुखियों के प्रति उसका प्रेम। और ईश्वर-तत्त्व का यह मानवी रूप अपने-आप चलता है।" इस विचार-धारा की रोशनी में शान्तिभिक्षु के इस मत से सहमत हो जाना कठिन है : "राम आदि पौराणिक परम्परा के नामों के बल पर निर्गुनियों सन्तों को वेद और पुराणों का अनुयायी नहीं बताया जा सकता, जबकि उनके राम आदि सर्वथा वेद और पुराण-सम्मत नहीं हैं। इन निर्गुनियाँ सन्तों का प्रभाव सगुनियाँ सन्तों पर बहुत पड़ा। वर्ण-श्रेष्ठता के पक्षपाती होने पर भी इन्होंने धार्मिक साधना का द्वार सबके लिए खुला रखने की कोशिश की है।...सगुनियाँ मत के सन्त राम को सब नामों पर तरजीह देते हैं वह अकारण नहीं है।"[2] इस प्रकार से कहीं-कहीं पर लेखक के बौद्ध-प्रचारक होने के कारण ऐतिह्य विवेचन में विवेक का स्थान भावुकता ने ले लिया है; फिर भी सर्वत्र बुद्धिवादी, विचिकित्सक सन्तुलन को लेखक खोता नहीं है। इतर मत-खंडन भी सौम्य और अहिंसक शब्दावली में है।

संक्षेप में, यह ग्रन्थ हिन्दी को गौरव प्रदान करता है और अन्य भाषाओं की दृष्टि में हिन्दी को उठाता है। शान्तिभिक्षु जी का कार्य इस विषय में बहुत ही मूल्यवान है।

हिन्दी के अन्य सभी प्रकाशनों की भाँति इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक पर भी प्रकाशन-तिथि, वर्ष आदि यहाँ भी नहीं दिये हैं।[3]

राय आनन्दकृष्ण

कला : एक नवीन दृष्टिकोण

कला के प्रति हमारे समाज की जो उदासीनता है, वह उससे सम्बन्धित साहित्य के दुर्लभ होने से स्पष्ट है। जिन देशों में, हमारे प्राचीन समाज की भाँति समाज की कला के प्रति आँखें बन्द नहीं हैं उनमें कला की तात्विक चर्चा बहुत लोकप्रिय हुई है और अँग्रेजी एवं अन्य पाश्चात्य भाषाओं का प्रकाशन इस दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा है। अपने देश का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि एक ओर अपनी कलाओं का समुचित अध्ययन नहीं, दूसरे उनके इतिहास अथवा उनकी व्याख्याएँ संकुचित पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रस्तुत हुईं, जिनके द्वारा उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन ही नहीं हो सका एवं अन्ततः उन सबका प्रकाशन विदेशी भाषाओं में होने से वह चर्चा अँग्रेजी पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित रही। समुन्नत साहित्य का अभाव भी हमारे लोक में कला-चेतना के ह्रास का एक कारण रहा है, कला की चर्चा गुलदस्तों की भाँति भले ही उच्च वर्ग के

१ यथा हंसनाद १३६, ३-४।

२ देखिए पुस्तक का पृष्ठ १२४।

३ लेखक—शान्तिभिक्षु, प्रकाशक—विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।

गोल कमरों की शोभा बढ़ाने लगी हो, पर धरती से वह बिलकुल विच्छिन्न होती जा रही है।

दूसरी ओर कला की तत्त्व-चर्चा पाश्चात्य देशों में कला की नवीन-से-नवीनतम दिशाओं की खोज करने एवं उसमें उसे प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो रही है। लेखनी का सहारा पाकर वहाँ शैलियों ने कुछ ऐसे मोड़ लिये हैं, जिन्हें हमारे कलाकार आँख मूँदकर आत्मसात करते जा रहे हैं। उनमें अनेक के सम्बन्ध में समाज को विचार करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक एक बहुपठित लेखक की रचना है, जिसने उपनिषद्-साहित्य से लेकर रवीन्द्रनाथ टाकुर तक के उद्धरणों द्वारा हमारे चिन्तन की न जाने कितनी श्रेणियों को पार करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसके विशद प्रतिपादनों के कुछ सुन्दर स्थल पृष्ठ ३-४, पृष्ठ २०, पृष्ठ ३३, पृष्ठ ५०-५१, पृष्ठ ५२, पृष्ठ ११६-१२०, पृष्ठ १२१-१२२ आदि हैं, कहीं-कहीं पृष्ठ ३, पृष्ठ ११६-१२० आदि पर वे बहुत काव्यात्मक हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों, साहित्य-शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के उद्धरणों में उसने कितनी सतर्कता रखी है, यह उन शास्त्रों में पारंगत ही बता सकते हैं, परन्तु उसके प्रतिपादन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक पहलुओं पर कुछ निवेदन करना आवश्यक है।

विद्वान् लेखक ने पहले निबन्ध में कला शब्द के अर्थ, प्रयोग एवं भारतीय प्राचीन जीवन से उसके सम्बन्धों पर विचार किया है। 'कामसूत्र' की भाँति अनेक प्राचीन ग्रन्थों में कलाओं की सूची मिलती है। जातकों में भी शिल्पों की सूची है, जिनमें कुछ शिल्प (यथा हजामत बनाना!) हीन शिल्प के अन्तर्गत आते हैं। विभिन्न कालों में कला शब्द के विभिन्न प्रयोग मिलते हैं एवं कहीं-कहीं उसका प्रयोग कौशलों (क्रैफ्ट्स) के अर्थ में हुआ है। समय-समय पर होने वाले इन अन्तरों को ध्यान में न रखने से भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्वभावतः मध्यकालीन साहित्य-शास्त्रकारों ने इस शब्द का जो अर्थ किया है उससे गुप्त-काल में या उससे भी पूर्व, उसका अर्थ कुछ और ही था। कम-से-कम ऐसे अनेक प्रमाण हैं कि कला को कौशल से भिन्न स्तर पर पूर्वों ने प्रतिष्ठित किया है। प्रारम्भ में लेखक ने कहीं-कहीं इस दृष्टिकोण को छोड़ दिया है, यद्यपि पृष्ठ ६६ पर उसने स्वयं इसे स्वीकार किया है। आचार्य डॉक्टर कुमारस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ट्रान्सफार्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट' में इस विषय को बहुत विशदता से समझाया है। उपनिषदों में प्रयुक्त चित्त-संज्ञा शब्द से ही स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति में लोक-वृत्ति अनुकरण होने पर भी कलाकार के मन पर पड़ी लोक की छाया का व्यक्तीकरण है। चित्र-कला के सन्दर्भ में प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त सु-सदृश, अनु-रूप, अनु-कृति आदि शब्द इसी बात को स्पष्ट करते हैं।

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया भी इससे भिन्न नहीं। विद्वान् लेखक ने अनेक पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों के प्रमाणों द्वारा साहित्य-सृजन में इस प्रक्रिया को स्वीकारा है। पृष्ठ १३ पर पाद-टिप्पणी में हर्बर्ट रीड की उक्ति में इमेजेज़ शब्द इसी चित्त-संज्ञा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः 'बाइबिल' का विज़न (पृष्ठ १४) शब्द इससे भिन्न नहीं। लेखक ने साहित्य में इस प्रक्रिया को जिस रूप में देखा है, कला में उसकी प्रतिष्ठा है। आश्चर्य की बात यह है कि दूसरे निबन्ध 'कला की परिभाषा' में उसने अरस्तू से लेकर रवीन्द्रनाथ तक के चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को बहुत प्रबलता के साथ हमारे सामने रखा है। पृष्ठ १२५ पर प्राचीन चीनी चित्रकार कुओसी की उक्ति भी इसकी पुष्टि करती है। चित्र-सूत्र में भी यही बात मिलती

है। पृष्ठ ४५ और पृष्ठ ६३ पर विद्वान् लेखक ने स्वयं स्वीकारा है : "प्रत्येक कला···एक ही लक्ष्य की साधना करती है।" पर न जाने क्यों स्वयं उसे इस बात पर निष्ठा नहीं। इसी प्रकार "संगीत···ही है," (पृष्ठ ५७) वाला उसका निष्कर्ष किसी तर्क पर आधारित नहीं।

अतः साहित्य अर्थात् काव्य एवं कला में साधन-मात्र की भिन्नता मानी जाती है। जिस प्रकार साहित्य में ही अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार हैं; यथा छन्दों द्वारा, कथाओं द्वारा, गद्य-काव्यों द्वारा, निबन्धों द्वारा एक ही भाव की अभिव्यक्ति हो सकती है उसी प्रकार साहित्य और कला अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग-मात्र हैं। तालस्ताय के कथन (पृष्ठ १६), "कला वही मर्मवाणी है जो साहित्य की है," पर ध्यान न देकर लेखक ने कहा है : "कला और काव्य को एक कर देने में कोई अशुभ सम्भावना नहीं होनी चाहिए।" इस प्रकार लेखक ने दोनों में जो तात्विक अन्तर पाया है वह वस्तुतः है ही नहीं और ऊपर यही बात तालस्ताय के शब्दों में भली भाँति व्यक्त हुई है। लेखक ने इस दृष्टिकोण को अमान्य ठहराकर कहा है : "हम इसे काव्य नहीं कहेंगे, यह काव्य की कला हो सकती है।" (पृष्ठ ८)। मानो सबसे हीन रूप कला का है। अपने देश में कला के प्रति ऐसी भावना कभी न थी। प्राचीन उल्लेखों में तो कुछ और ही मिलता है :

> शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
> लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैह्यमी। (भामह)

अथवा 'साहित्य संगीत-कला-विहीनः' वाले प्रसिद्ध वाक्यांश में कला की प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से मिलती है। इस पक्ष के इतने उद्धरण मिल सकते हैं कि उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं। तब ऐसा भ्रम क्यों उत्पन्न होता है ? वस्तुतः चित्र आदि को कहीं-कहीं कलाओं के ऐसे वर्गों में रखा गया है जिनमें नागरों के लिए अनेक कौशलों के नाम हैं; जैसे माला गूँथना, बुझौवल, समस्या-पूर्ति आदि। ध्यान देने की बात है कि ये सूचियाँ नागरिकों के लिए हैं, कलाकारों अथवा स्नातकों के लिए नहीं। जन-साधारण के लिए कला की सूची वस्तुतः उनके दैनिक जीवन में काम आने वाले गुणों की सूची है, आजकल के शब्दों में 'सोसायटी मैन' बनने के लिए गुणों की सूची है। इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट है कि वेश्याएँ कलाओं में प्रवीणता इसलिए प्राप्त नहीं करती थीं कि उससे उन्हें 'ब्रह्मानन्द सहोदर रस' की उपलब्धि हो, वरन् उन्हें वे अपनी 'वैदग्ध-ख्याति' के लिए प्राप्त करती थीं। कलाकार की साधना इन सबसे भिन्न ही होती है।

इन सब वर्गों से ऊपर कलाकार था, जिसे समाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। राजा अपने दरबार में उसे 'ज्ञानवान' कहकर सम्बोधित करते थे। वह आचार्य कहलाता था। वह जिस साधना में लगा रहता उसके फलस्वरूप हमारे प्राचीन काल की लोकोत्तर कला की सृष्टि हुई है जिसके उदाहरण सारे देश में महासागर की भाँति अतीत के महा समुद्र से प्रायः निकल पड़ते हैं। जिस समाज ने नालन्दा के कलाकारों को जन्म दिया, जिस समाज ने सारनाथ के बुद्धदेव की मूर्ति [illegible] देखा हुआ उसमें कला के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा होगा इसे बताने की आवश्यकता नहीं। [illegible] कला किसी [illegible] नहीं होती इसका [illegible] करना भी अनपेक्षित है। [illegible] साहित्य में कला-कृतियों के प्रति सहसा निर्गत [illegible] देखें, जिनसे सारा संस्कृत-साहित्य भरा पड़ा है। ऐसी दशा में [illegible] मानव ने कला की यह मान्यता इसके (नई विचार-

धारा के) पहले कभी नहीं" दी (पृष्ठ ८), भारत के पास प्रतिमा बनाने का कौशल कला तो था, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का अभिषिक्त मन्त्र उसके पास नहीं था" (पृष्ठ ११), न्याय-पूर्ण नही । ऐसी अनेक उक्तियो के पीछे विद्वान् लेखक को कौनसी प्रेरणा थी, यह पता नहीं ।

अन्य निबन्धों में लेखक ने कला की भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गई परिभाषाओं का अच्छा संग्रह किया है, जो इस विषय में उसके गम्भीर अध्ययन का परिचायक है । कला-सम्बन्धी प्राच्य वा पाश्चात्य उक्तियो का ऐसा बृहद् एवं सुन्दर संग्रह दुर्लभ है । उन उक्तियों का प्रतिपादन भी लेखक ने बड़े ही सामर्थ्य के साथ किया है । इसमे भी कई बार ऐसे प्रसंग हैं, जिनमे देशी वा विदेशी चिन्तको ने कला की प्रतिष्ठा साहित्य से कम नहीं की है । आश्चर्य है स्वयं उससे भिन्न-मति होते, लेखक ने इनके पक्ष का इतना अच्छा प्रतिपादन कैसे किया है । परन्तु इसमे यह स्पष्ट है कि अनेक देश-काल के भिन्न-भिन्न विचार-धारा वाले मनीषी कला के सम्बन्ध मे प्रायः एकमत है । वस्तुतः उनके इस मतैक्य को देखकर आश्चर्य होता है । यही बात कला के प्रयोजनो के सम्बन्ध मे आती है । सौन्दर्य शब्द एवं उसके विभिन्न अर्थों में भी कुछ कम बखेडा नही है । इस 'खंडनखंडखाद्य' से बेचारी कला का सिर चकरा गया होगा । इसके बाद यह निष्कर्ष उचित है : **"जो कला की दृष्टि से अच्छा सुन्दर है, वह सुनीतिमूलक, जो नहीं वह नहीं अथवा विपर्यय करके, जो सुनीतिमूलक है वही अच्छा, जो नही वह नहीं ।"** सारे ऊहापोह के बाद यही ठौर मिलता है । कला जीवन का संस्कार करती है या नहीं, यह भी बहुत-कुछ इसी सूत्र पर हल होता है । कला की तीनो दृष्टियो अर्थात् कलाकार का दृष्टिकोण, कृति का दृष्टिकोण एवं रस-ग्राहक के दृष्टिकोणो का अलग-अलग अच्छा विवेचन हुआ है, जिसमे अनेक उद्धरण उपयोगी एवं मननीय है । इन तीनों दृष्टिकोणो को अलग-अलग, एक-दूसरे से भिन्न, एक-दूसरे से परस्पर विरोधी नही मानना चाहिए । वस्तुतः ये तीनो एक-दूसरे के पूरक है । इस दृष्टिकोण के बिना कला की परिभाषा एकागी होगी ।

पर लेखक की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसने अपने-आपको तटस्थ रखकर सामग्री प्रस्तुत की है और उस पर विचार-विमर्श किया है । किसी वाद मे पडकर प्रत्येक सिद्धान्त को तोडने-मरोडने की चेष्टा उसने नही की है । विशेष रूप से प्रत्येक सिद्धान्त वा वाद को प्रतिपादित करने मे उसने अपनी गहराई का परिचय दिया है यथा पृष्ठ ३२-३३ पर 'स्वान्तःसुखाय' और 'बहुजन हिताय' वाला प्रसंग अथवा पृष्ट ५०-५१ पर 'अभिव्यक्ति की शक्ति' या पृष्ठ ५२ पर 'उपयोगिता वनाम सौन्दर्य-भावना' आदि उदाहरण के लिए काफी होंगे ।

इस प्रकार पुस्तक अपनी उपादेयता के देखते विशिष्ट वर्ग मे आती है, जिसके लिए लेखक बधाई का पात्र है ।

---

१. **लेखक—हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक—मानसरोवर, गया ।**

बैजनाथसिंह 'विनोद'

प्राचीन लोकोत्सवों का अध्ययन

भारतीय प्राचीन लोकोत्सव ऐसा विषय है, जिस पर बहुत कम अध्ययन हुआ है। पर "...... प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल ऐसे ही उत्सवों का वर्णन हुआ है, जिनका कुछ ऐतिहासिक महत्व है।" इस प्रकार विषय जरा सीमित पर गठित हो गया है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में अनेक लोकोत्सवों को छोड़ भी दिया गया है। विषय-प्रवेश में उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण में लेखक ने पाकिस्तान बनाने वाली मुसलिम मनोवृत्ति की चर्चा के साथ ही यह भी कहा है कि हमारे देश में 'फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीका वालों का स्वातन्त्र्य-संग्राम या रूसी क्रान्ति-जैसी अनियन्त्रित जनता की उद्दण्डता का उदाहरण नहीं मिलता।' एक तो इन बातों का विषय-वस्तु से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है; दूसरे फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीकी स्वातन्त्र्य संग्राम और रूसी क्रान्ति का सम्बन्ध समाज के उस विकास से है, जिसे अर्थनीतिक परिभाषा में औद्योगिक और सामाजिक क्रान्ति कहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ भारतवर्ष में अंग्रेजों के माध्यम से हुआ। इसीलिए यहाँ क्रान्ति नहीं, अंग्रेजों की छाया में औद्योगिक विकास हुआ। इस विकास के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में अंग्रेजों की छाया में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति हुई। भारतीय समाज के श्रेणी-सम्बन्धों, ऐतिहासिक काल-क्रम और अंग्रेजी कूटनीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति पहले हुई और मुसलमानों में बाद को। इस अर्थनीतिक भेद ने सामाजिक परिपार्श्व के अन्दर अंग्रेजी कूटनीति द्वारा साम्प्रदायिक रूप लिया, जिसका परिणाम पाकिस्तान हुआ। अतः यह (पाकिस्तान) कोरे सामूहिक मनोविज्ञान का विषय नहीं है। सामाजिक यथार्थ का कुछ सीमा तक अपरिपक्व, विकृत और कुछ सीमा तक विदेशी कूटनीतिक परिणाम है। फ्रांसीसी और रूसी क्रान्ति में समाज का विकास न देखकर उद्दण्डता देखना, समाजतात्त्विक यथार्थ की अवहेलना करना है। किन्तु उदाहरण की अप्रासंगिकता और इन गलतियों को निकाल दिया जाय तो उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण सुन्दर है।

ऐतिहासिकता का बन्धन लेखक ने ऐसा बाँधा है कि बहुत-से अपेक्षित उत्सवों के विधानों की उपेक्षा हो गई है। 'दीपावली' के बाद 'यम द्वितीया' के उत्सव के वर्णन में शहरों में होने वाले कृत्यों का भी वर्णन नहीं किया गया है। जैसे बहन द्वारा भैंडेहर भरना, गोधना कूटना, भाई को गाली और मृत्यु का श्राप देना और फिर भाई की आयु जोड़ना। भोजपुरी-भाषी देहातों में इस उत्सव में जमीन पर गोबर की पुरुष आकृति बनाना, उसमें चना रखना, कुमारी कन्याओं द्वारा उसे मूसल से मारना, गालियाँ बकना, वृद्धाओं द्वारा कहानियाँ कहना और गीत गाना तथा फिर इसी चने का खाना आदि बहुत दिलचस्प हैं। पर लेखक ने किसी का जिक्र नहीं किया है। ऐसा लगता है कि लेखक ने प्राचीन साहित्यिक रेकार्डों को ही इतिहास मान लिया है। जीवित [illegible] की ओर ध्यान कम दिया गया है। प्राचीन रेकार्डों में भी उससे गलतियाँ हो गई [illegible] बृहद्रथ को [illegible] मानना। बृहद्रथ वसु का पुत्र है और उसने मगध में बार्हद्रथ-[illegible], जिसमें आगे चलकर [illegible] नामक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इस [illegible]। इसीलिए बाद के ब्राह्मण-मत वाले साहित्यकारों ने [illegible], पर आधुनिक लेखकों को इन तथ्यों को समझना चाहिए।

लोकोत्सवो के उत्सवोचित विधानो का वर्णन तो प्रायः नहीं-सा ही है। शुष्क शैली मे सार-मात्र दिया हुआ है। इससे प्राचीन लोकोत्सवों की झाँकी नहीं मिलती। सिर्फ इंगित होता है कि अमुक उत्सव ऐसा होता था। अच्छा होता यदि प्राचीन साहित्य से उत्सवो के सजीव वर्णनो को और उत्सवो के लोक-प्रचलित रूपों को भी ले लिया गया होता। उत्सवो की विधि को ही न देकर यदि उसके कलात्मक रूपो को भी दे दिया गया होता तो न केवल ग्रन्थ की कमजोरियाँ दूर हो जाती, बल्कि उसकी उपयोगिता भी बढ गई होती।

'प्राचीन लोकोत्सव' मे लोकोत्सवो की अपेक्षा, जिन मान्य देवी-देवताओ के नाम पर उत्सव होते है, उन देवी-देवताओ के विकास और इतिहास का अच्छा परिचय दिया हुआ है। नवरात्रि-उत्सव के प्रसंग मे देवियो का परिचय विस्तृत और प्रमाण-पुष्ट है। विभिन्न देवियो के सम्बन्ध मे, उनकी पूजा के सम्बन्ध मे, प्रारम्भ मे उनका किन जन-जातियो से सम्बन्ध था और बाद मे उनका कैसे आर्यीकरण हुआ, इन सभी पहलुओ पर सूक्ष्म और सारग्राही विवरण इस ग्रन्थ मे है। वस्तुतः इसमे इतना ही सर्वोत्तम है। यदि कुछ उत्सवो को हटाकर इसका नाम 'भारतीय लोक देवी-देवता' कर दिया जाय तो ग्रन्थ गठित हो जायगा और ऐसा न करने पर लोकोत्सवो का सजीव चित्र देना परमावश्यक होगा।

प्रस्तुत पुस्तक मे विषय-प्रतिपादन की दृष्टि व्यापक है। भारतीय देवी-देवताओ और लोकोत्सवो से मिलते-जुलते विश्व मे जहाँ जो देवी-देवता और लोकोत्सव है, उन सबो का संक्षिप्त परिचय लेखक ने दिया है। इस शैली से विश्व मे मानव-मन की एकता की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित होता है। विभिन्न देवी-देवताओ और विश्लेषणो के अन्त मे लेखक ने अपने परिणाम भी निकाले है। लेखक के परिणामो से पूर्णतः कोई सहमत हो अथवा न हो; पर लेखक की इस वैज्ञानिक शैली का पाठक के मन पर शुभ परिणाम पडना चाहिए। इस शैली द्वारा लेखक पाठको को सोचने के लिए बाध्य भी कर देता है और एक परिणाम भी सामने रख देता है, जिसके पीछे तर्क और प्रमाण दोनो होते है।

वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी मे इस विषय का यह अच्छा ग्रन्थ है। इसमे कुछ त्रुटियाँ है, इसकी भाषा मे भी कुछ दोष है—पुनश्च का प्रयोग बडा बेढंगा है—पर लेखक की दिशा ठीक है।[1]

डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

व्यक्ति और वाङ्मय

श्री प्रभाकर माचवे हिन्दी के सुविख्यात कवि और आलोचक है। उनकी प्रस्तुत कृति 'व्यक्ति और वाङ्मय' मे सन् '३६ से सन् '५२ तक समय-समय पर लिखे हुए उनके लेखो का संग्रह है। इन लेखो मे उन्होने आदि काल से आधुनिक काल तक के भारतीय कवियो की 'रचनाओ और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया है। ऐसे कवियो मे वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, राजशेखर, कबीर, विद्यापति, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला, महादेवी, 'दिनकर',

१. लेखक—श्री मन्मथ राय, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

भारतभूषण अग्रवाल आदि, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मराठी के तॉबे, बी. यशवन्त आदि, दक्षिण भारत के सुब्रह्मण्य भारती (तमिल), वल्लथोल (मलयालम), दे० कृष्ण शास्त्री (तैलुगु), द० रा० बेन्द्रे (कन्नड), गुजराती के नान्हामल, जोशी आदि और पंजाबी के नानक से लेकर आज तक कवियों की 'रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया गया है। कुछ लोगों का यह कहना रहा है कि माचवे जी केवल हिन्दी की बात मराठी में और मराठी की बात हिन्दी में कहते हैं। 'व्यक्ति और वाङ्मय' से यह सिद्ध हो जाता है कि वे मराठी की बात ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की बात भी हिन्दी में कहते हैं—हॉ, यह पता नहीं कि वे हिन्दी की बात भी उन सब भाषाओं में कहते हैं या नहीं। इतना ही नहीं, माचवे जी को रूसी, जर्मन, फ्रेञ्च, ग्रीक, लेटिन, इटैलियन, अंग्रेजी, पोलिश आदि यूरोपीय भाषाओं का भी ज्ञान है, जिनसे वे स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हैं और यूरोपीय ग्रन्थकारों के नामों का उल्लेख करते हैं। ऐसे बहु-भाषाविद् कवि और लेखक को पाकर हिन्दी-भाषा आज धन्य है! प्रारम्भ में लेखक ने लिखा है: '**लेखक व्यक्ति की वर्तमान आचार-स्थिति को साहित्य के लिए कसौटी मानने को तैयार नहीं। हॉ, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से वह अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन करने की चेष्टा आवश्यक समझता है।**' माचवे जी व्यक्ति और उसके साहित्य को अलग-अलग देखना नहीं चाहते। किन्तु जब हम इस कृति को पढ़ते हैं तो लेखक के इस कथन की पुष्टि नहीं होती। हमें 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन' अत्यन्त क्षीण रूप में मिलता है या फिर मिलता ही नहीं। वाल्मीकि, व्यास आदि से सम्बन्धित प्रारम्भिक लेखों में तो इस प्रकार का अध्ययन बिलकुल नहीं है—शायद यह सम्भव भी नहीं था। लेखक ने संस्कृत और प्राकृत-कवियों से सम्बन्धित लेखों को खोजपूर्ण बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उनमें 'फिफ्थ टु सोर्सेज' से ली गई सूचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों से सम्बन्धित लेखों में संस्मरण और कवियों की कुछ रचनाओं की समीक्षाएँ हैं या उनकी रचनाओं से सम्बन्धित कुछ पक्षों पर ही संक्षेप में विचार किया गया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के अन्तर्गत 'अन्तर-मानस का अध्ययन' हमें नहीं मिलता। लेखों में प्रायः विषयान्तर मिल जाता है। पाठक लेखक के विचारों से सहमत भले ही न हों, किन्तु उसके लेखों में रोचक सामग्री का अभाव नहीं है। लेखक की जर्नलिस्टिक शैली में पाठकों का मन रमता है, मनोरंजन होता है और अनेक दिलचस्प बातें पढ़ने को मिलती हैं, किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ लेने के बाद पाठकों का बौद्धिक Status quo बना रहेगा। वास्तव में माचवे जी के ये लेख उन चित्रों की भाँति हैं जिनमें विविध प्रकार के रंगों की कूँचियाँ तो मारी गई हैं, किन्तु चित्र या तो अस्पष्ट हैं या केवल आंशिक रूप में ही उभर पाए हैं। कहीं-कहीं तो रंग फीके भी हैं।[1]

●

१. लेखक—प्रभाकर माचवे, प्रकाशक—आधुनिक प्रकाशन, दिल्ली।

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

विभावरी

'विभावरी' श्री नीरज की ४० कविताओं का संग्रह है, जिसमें ३८ गीत हैं और २ गद्य-काव्य। कविताओं में कवि का सबसे प्रबल स्वर संसार की क्षण-भंगुरता से उत्पन्न निराशा का है। इसीलिए अधिकांश कविताओं में कवि ने भिन्न-भिन्न प्रकार से यही बात कही है कि संसार में स्थायी और सुखद वस्तु कुछ नहीं है, धरती, आकाश और समुद्र सब नाश की गोद में विश्राम कर रहे हैं और जिन्दगी एक विवशता है। नीरज जी की कविता में बड़े वेग से जो यह नाश का चित्रण हुआ है यह क्यों? नाश-भावना से प्रेरित काव्य-सौन्दर्य जहाँ उनके लिए गौरव की वस्तु है वहाँ हमारी समझ में युग के दायित्व से भागने की भी वस्तु है। हो सकता है कि नीरज जी युग की माँग को महत्त्व न देकर युग-युग की भावना को ही वाणी के माध्यम से प्रचारित करना चाहते हों, पर तब भी हमारा विनम्र निवेदन यह है कि 'मृत्युवाद' ही युग-युग की भावना नहीं है, 'जीवन' भी युग-युग की भावना है; और आज, जब कि राष्ट्र जीवन मरण के संकट में है, एक सशक्त स्वर के कवि से अधिकार पूर्वक यह माँग करना अनुचित नहीं है कि वह पिष्टपेषण के दोष को अपनाकर नाश का गीत न गाए।

यह हम इसलिए और भी कहते हैं कि नीरज जी की लेखनी में शक्ति है और वे प्रेरक और गतिवान कविताएँ भी लिख सकते हैं। हमें विश्वास है, नीरज जी अपने 'जनपद की धूल' गद्य-गीत की भावना को अपना लक्ष्य बनायेंगे। **'स्वर्ग तो केवल कल्पना-लोक है, उसे यदि तू चाहे तो पृथ्वी पर ही बना सकता है, पर शासन यदि चाहता है तो जा, जनपद की धूल मस्तक पर धारण कर, तुझे त्रिलोक का राज्य प्राप्त हो जायगा।'** उन्हीं के शब्दों को लेकर हम उनसे यह सब इसलिए कहना चाहते हैं कि, **'करने को निर्माण मगर जग में वीरान अभी बाकी है।'**

नीरज जी की कविताओं में दृष्टिकोण की असामयिकता भले ही हो, पर उनकी अनुभूति की सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर सबसे बड़ी विशेषता भाषा-शैली की है। उर्दू-मिश्रित सरल भाषा में अपनी गहरी-से-गहरी बात को व्यक्त कर देने में सम्भवतः नीरज जी आधुनिक तरुण कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। ऐसा लगता है कि अनायास उनकी अनुभूति इस भाषा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर गई है।

उनके संग्रह पर आदर्श वाक्य की भाँति ये पंक्तियाँ अंकित हैं: **'आदमी हूँ आदमी को प्यार करता हूँ।'** हम उनके इस मनुष्य-प्रेम का आदर करते हैं, पर यह मनुष्य-प्रेम केवल नारी तक ही सीमित होकर न रह जाय, इस ओर कवि को सतर्क रहना है और पीड़ित मानवता का गीत भी गाना है। आशा है कवि इस ओर गहराई से सोचेगा।[1]

●

---

१. लेखक—नीरज, प्रकाशक—साधना प्रकाशन, कानपुर।

अक्षयचन्द्र शर्मा

मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह

'मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह' निःसन्देह मीराँ के पदो का बृहत् संग्रह है; इसका सम्पादन श्रीमती पद्मावती 'शबनम' ने अत्यन्त श्रम पूर्वक किया है। यदि सम्पादिका मे श्रम और लगन के समान भाव-विषयक तल-स्पर्शी अन्तर्दृष्टि और भाषा-विवेचिनी विद्वत्ता होती तो यह कार्य मीराँ-साहित्य-परम्परा मे शीर्ष-स्थानीय होता। इस संग्रह का महत्त्व एक-मात्र संग्रह की दृष्टि से ज्यादा है और विवेचन की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम। सम्पादिका ने मीराँ-काव्य-जिज्ञासुओ के सम्मुख बहुत-सी कच्ची-पक्की सामग्री जुटा दी है, जिसको आधार बनाकर मीराँ के अध्ययन को आगे बढ़ाया जा सकता है।

सम्पादिका ने भाव को स्पष्ट करने के लिए फुटनोट मे कुछ शब्दो का अर्थ दिया है। भूमिका-लेखक श्री श्रीकृष्णलाल के कथनानुसार इससे मीराँ के भाव स्पष्ट हो गए है। पर यह सही नही। सम्पादिका शब्दो का अर्थ स्वय कम समझती है, इससे भावो की अस्पष्टता ही बढी है। स्थान स्थान पर जो शब्दार्थ दिये गए है, वे प्रायः अशुद्ध हैं।

'शबनम' ने पहला शब्दार्थ 'बिस्वा बीस' का लिखा है, पर बिस्मिल्लाह ही गलत। 'बिस्वा बीस' का अर्थ 'शुभ' कहाँ से आया; राजस्थानी भाषा मे आज भी इसका अर्थ 'एकदम-सही' प्रचलित है : 'सुपण-बिस्वा बीस।'

चोरी करूँ न मारगी (पृष्ठ ६) 'मारगी' का अर्थ कुमार्गी होना नही, बटमारी करना है।

'कांकड़ करहा झुकाय पिया म्हारो गिरधारी।' (पृष्ठ ७) इसके सीधे-से अर्थ मे सम्पादिका उलझ गई। करहा का अर्थ मालूम न होने से सारी गडबड़ हुई। इस पंक्ति का अजीब अर्थ लिखा है : 'सरहद ने अपने शिखर झुका दिए।' लिखने को तो लिख गई, पर भाव कुछ बैठा नही, तो फिर धींगा-धींगी से दूसरा अर्थ (!) निकाला गया : 'अर्थात् सरहद के लोगो ने बारात सजाकर आते हुए राणा का विशेष स्वागत किया।' उक्त पंक्ति का सीधा-सा अर्थ है—'हे सखी! राणा का ऊँट गाँव की सीमा पर आ पहुँचा, पर मेरे तो पति गिरिधर है।' यह पद विवाह-प्रसंग का है। सखी से मीराँ की बातचीत हो रही है। राजस्थान मे दूल्हा ऊँट पर सवार होकर जाता है। बस, यही इसमे निर्देशित है। 'करहा' का अर्थ ऊँट होता है, यह शब्द आज भी राजस्थान मे प्रचलित है। विवाह की शुभ वेला मे 'करला' (ऊँट का गीत) गाया जाता है। सस्कृत के 'क्रमेलक' से बिगडकर 'करला' या 'करहा' शब्द बना है, यही अंग्रेजी मे 'केमल' बन गया है। वीर-काव्यो व लोक-गीतो मे यह शब्द भरा पडा है :

'एकर स्यां मारूजी करला पाछा जी मोड
ओल्यूं घणी आवै म्हारे बाबा सारी।'

[हे प्रिय! एक बार, केवल एक बार, ऊँट को वापस मोड लो। मुझे मेरे पिता की मधुर याद आ रही है।]

कामिण कलस सँवारि (पृष्ठ ८) मे कामिण का अर्थ दिया है घर मे काम करने वाले नौकर। यह अर्थ एकदम अशुद्ध है। सही अर्थ है—सुन्दरियाँ (मंगल) कलश सजा रही हैं। विवाह के समय सुन्दरियाँ मगल-कलश सजाकर सूण (शकुन) दिया करती हैं।

सम्पादिका ने 'ओलमा' का अर्थ जगह-जगह 'शिकायत' लिखा है, इसका अर्थ उपालम्भ या उलहना है। शिकायत और उलहना पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। 'आई मिल्यो मोहि सागी रे' (पृ० ५८) इसमे 'सागी' का अर्थ 'स्वयं' लिखा है, जबकि इसका अर्थ है, वही (सेम)। 'मेरे भांवे' (पृ० ६८) मे 'भावे' का अर्थ 'लगती है' किसी तरह नही लगता; 'मेरी बला से' इसका अर्थ है, जो आज भी इसी अर्थ मे राजस्थानी में व्यवहृत होता है। 'पातलियो साँवरियो लोभी' (पृ० ६६) मे 'पातलियो' का अर्थ सुगठित शरीर वाला नहीं, 'पतले शरीर वाला' है। गीतो मे नायक के सुन्दर विशेषणो में यह भी एक विशेषण है।

सम्पादिका ने 'गिरधर म्हारो मोड' (पृ० ६५) में मोड के तीन अर्थ लिखने का व्यर्थ कष्ट उठाया, मोड का असली अर्थ 'मौर' (सिरमौर) न जाने कैसे छूट गया। 'राणाजी ओठी भेज्या' (पृ० ६७) मे 'ओटी' का अर्थ 'पत्र' लिखा है। ओठी का अर्थ है—ऊँट-सवार। यह शब्द लोक-गीतो मे राशि-राशि भरा पडा है। 'पणिहारी ऐ लोय' गीत मे भी यह शब्द आता है : 'होज्या ओठीडै रै लार।'

'ढोल्यो' शब्द मीराँ के पदो में बार-बार आया है :

'(१) जाजम दीनी बैसणो कोई ढोल्यो दीनो ढाल (पृ० १०१)

(२) आवण री बिरियाँ भई जी, अब महलां ढोल्यो ढाल' (पृ० १३७)

सम्पादिका ने 'ढोल्यो' का अर्थ किया है 'मूँज के बनाये हुए छोटे पलंग, मचिया' तथा दूसरे स्थान पर अर्थ दिया है 'अतिथि अभ्यागत के लिए बनाये गए छोटे पलंग।' ढोलिया मूँज का नही, सुरंगी नीवार से बनाया जाता है। यह अभ्यागत के लिए नही, प्रिय के लिए बनाया जाता है। महल मे ढोलिया ढाला जाता है। यह छोटा नही, बडा होता है। ढोलिया तो केलि-पर्यंक है। ढोला (प्रिय) जिस पर पोढ़े—वह ढोलिया। लोक-गीतो मे भी प्रोषित-पतिकाएँ इसी 'ढोलियो' को सजाकर प्रतीक्षा करने की बात कहती है :

'बादल वर्णी सेज बिछाय
चन्दा के च्यानणियै ढालूँ ढोलियो जी म्हारा राज।'

मीराँ के पदो मे 'कालर' शब्द दो-तीन जगह आया है, पर इसका सही अर्थ कम ही समझा गया है :

'देखि बिराणी निवाण कूँ हे क्यूँ उपजावे खीज
कालर आपणो ही भलो हे जामे निपज्यै चीज' (पृ० २०६)

प्रसंग से स्पष्ट है कि 'कालर' शब्द नीवाण का विलोम शब्द है। नीवाण का खेत सबसे ज्यादा उपजाऊ होता है। कालर ताल की चिकनी मिट्टी को कहते हैं, यह अनुर्वर-प्राय होती है। दूसरे का उपजाऊ खेत किस काम का, अपना कम उपजाने वाला खेत भी अच्छा। इसके द्वारा एकनिष्ठ प्रेम की दृढ़ता व्यंजित की गई है।

इस प्रकार और भी बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं, इनसे स्पष्ट है कि सम्पादिका राजस्थानी भाषा और जीवन से पूर्ण परिचित नही हैं, इसलिए यह सम्पादन-कार्य इतना सफल न बन पडा।

मीराँ के पदो को विभिन्न शीर्षकों मे बाँटकर सम्पादिका ने अपनी सूझ-बूझ का पूरा परिचय दिया है। इस प्रकार के वर्गीकरण से मीराँ के भिन्न-भिन्न प्रभाव-स्रोतो का सम्यक् रूप से

अध्ययन किया जा सकता है। पदों के पाठान्तरों की विवेचना गहराई से करने का प्रयत्न है। पदों के भाव-वैषम्य व असंगतियों की भी स्थान-स्थान पर चर्चा की गई है, जो इस बात की सूचना है कि सम्पादिका ने अपने बूते के अनुसार पूरा प्रयत्न किया है।

पर यह कार्य राजस्थानी इतिहास, जीवन व भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् की अपेक्षा रखता है—तभी मीराँ-विषयक अध्ययन आगे बढ़ाया जा सकेगा। 'म्हारो दरद न जाणै कोय' को गीतों में गाने वाली मीराँ की चर्चा जितनी है, समझने का प्रयत्न उतना ही कम। मुंशी देवी-प्रसाद जी ने १६५५ में मीराँबाई की जीवनी प्रकाशित की थी, यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अनुसन्धान के साथ लिखी गई है। राजस्थानी भाषा के गम्भीर विवेचक श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'मीराँ-मन्दाकिनी' में मीराँ के पदों को अत्यन्त प्रामाणिक और शुद्ध रूप में उपस्थित किया था, यह लघु प्रयत्न मात्र था। आशा थी कि पुरोहित हरनारायण जी इस कार्य को पूरा करेंगे, पर उनके स्वर्गवास से यह कार्य अधूरा रह गया। इस स्थिति में चिर-प्रतीक्षित कार्य को श्रीमती पद्मावती ने आगे बढ़ाने का जो शुभ संकल्प किया है, वह सब प्रकार से श्लाघ्य है। इससे विद्वान् प्रेरणा पा सकें तो उनका यह प्रयत्न अभिनन्दनीय ही रहेगा।[1]

डॉक्टर रघुवंश

प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर

इधर हिन्दी-साहित्य में लघु उपन्यासों का प्रचलन कुछ अधिक हो गया है। इसका एक कारण तो यह भी है कि आज हजार-बारह सौ पेज के उपन्यास पढ़ने का समय और धैर्य अधिक पाठकों में नहीं है। परन्तु एक बात यह भी है कि बड़े उपन्यास में जीवन का जितना बड़ा कैनवेस लेना होता है, उसका निभाना उतना ही कठिन है। उसके लिए जीवन का व्यापक अनुभव अपेक्षित है। इस दृष्टि से नवीन उपन्यासकारों ने लघु उपन्यासों से प्रारम्भ किया है, यह उनके विकास-क्रम की दृष्टि से अच्छा रहेगा। नवीन का अर्थ यह नहीं कि अभी इन लेखकों की प्रथम कृतियाँ ही हमारे सामने हैं, वरन् इस अर्थ में कि अभी इन्होंने प्रारम्भ किया है और इनसे हमारे साहित्य को बहुत अधिक आशा है। यहाँ मैं पिछले और नवीन लेखकों का तुलनात्मक लेखा-जोखा लेने नहीं बैठा हूँ, परन्तु इतना कह देना चाहता हूँ कि इन नवीन उपन्यासकारों में नवीन सम्भावनाएँ हैं। ये अपने दृष्टिकोण में कथा-शिल्प, सामाजिक आदर्श तथा भाषा, सभी प्रकार से पिछले लेखकों से भिन्न हैं और इनमें नई शक्ति है, जो अवसर पाकर साहित्य में नवीन स्तर स्थापित कर सकेगी।

यहाँ मैं तीन लघु उपन्यासों को ले रहा हूँ, जनार्दन मुक्तिदूत का 'अधूरा-उपन्यास', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा' और लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप'। तीनों ही लघु उपन्यास हैं, जिनसे उपन्यासों के नवीन युग का स्वर पहचाना जा सकता है।

१. सम्पादिका—पद्मावती 'शबनम', प्रकाशक—लोक-सेवक प्रकाशन, काशी।

इन तीनों उपन्यासों को यहाँ एक साथ समीक्षा के लिए लेने का अर्थ यह नहीं है कि इनमे अत्यधिक समानता है। लेकिन समानता न हो ऐसी बात भी नहीं है। इन तीनों मे कथा-वस्तु को प्रस्तुत करने मे नवीन शिल्प-विधि अपनाने की कोशिश की गई है। मुक्तिदूत के उपन्यास मे एक नया प्रयोग है। प्रमुख पात्र पद्मकान्त अपने जीवन के उपन्यास का स्वयं लेखक है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह उपन्यास आत्म-कथा के रूप मे लिखा गया है। पद्मकान्त का चरित्र उपन्यासा की प्रेरणा से गठित है और वह अपने जीवन को उपन्यास के रूप मे ग्रहण करता है। उसका जीवन अपनी कठोर—विषम परिस्थितियों मे गुजर रहा है और वह उन्हीं मे से अपने उपन्यास का कथानक चुनता है, घटना-क्रम उपस्थित करता है। उसका उपन्यास केवल समस्याएँ प्रस्तुत करता है—व्याख्या तथा समाधान उसके अपने जीवन मे मिलता है। इस प्रकार लेखक के शब्दो मे ही "'अधूरा उपन्यास' नाम-भर है, वास्तव मे है यह पूरा उपन्यास।" पद्मकान्त की औपन्यासिक वृत्ति जहाँ उसे अधूरेपन मे छोड देती है, वहीं मूल उपन्यासकार ने अनुराधा के माध्यम से अपने उपन्यास को पूरा किया है। इस उपन्यास मे अनुराधा के चरित्र का उपयोग, क्या शिल्प की दृष्टि से और क्या कथानक की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पडा है।

'रुद्र' जी का उपन्यास 'बहती गंगा' अपने ढंग का नवीन प्रयोग है। शायद बँधी-बँधाई परम्परा पर चलने वाले लोग इसे उपन्यास स्वीकार न भी करे। पर लेखक के ही शब्दों मे **"प्रस्तुत 'बहती गंगा' की सत्रह तरंगें हैं—एक-दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र। परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बँधी हुई हैं"** वैसे देखने पर सचमुच इसमे अलग-अलग कहानियो तथा रेखा-चित्रो का संग्रह जान पडता है। पर बात इतनी ही नहीं है। इन सभी कहानियो मे आने वाले चरित्रो तथा घटनाओ मे काल और घटना-क्रम का सम्बन्ध भले ही न हो, पर एक अद्भुत भाव-संयोग है। इस लघु उपन्यास मे प्रधानता काशी नगरी की है—वही जैसे प्रधान पात्री है। भिन्न-भिन्न पात्र-पात्रियाँ और समय-समय पर होने वाली घटनाएँ तो उसीके जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ-भर है। विभिन्न अध्यायो का प्रभाव मन पर समवेत रूप से पडता जाता है, इस दृष्टि से उपन्यास मे पूरा संगठन है। कहीं भी इस बात का आभास नही होता कि कोई अध्याय भिन्न कथा के रूप मे है, यद्यपि दो भिन्न अध्यायो मे चरित्रो की आवृत्ति कम ही हुई है और घटनाओ मे शृङ्खला-क्रम भी नहीं है। पर जो कुछ प्रभाव एक अध्याय मन पर छोडता है, दूसरा अध्याय उसीकी भूमिका पर आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरे अध्याय मे लेखक ने काशी के दो शताब्दियो के जीवन को प्रत्यक्ष और सजीव किया है। इसमे क्या इतिहास, क्या जनश्रुति और क्या कल्पना, सभी ने एकरस सहयोग दिया है। कहानियों मे इस प्रकार के प्रयोग पहले भी किये गए है, पर उपन्यास के रूप मे यह पहला सफल प्रयास है।

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोसला और साँप' मे यद्यपि कथा कहने की शैली सहज है, पर उसके क्रम को कुछ बदलकर शिल्प-विधान मे अधिक उत्कर्ष उत्पन्न किया गया है। कहानी को अन्त से आरम्भ करना नया शिल्प नहीं है, पर इस लघु उपन्यास मे इसका प्रयोग सफलता की दृष्टि से बहुत अच्छा बन पडा है। जिस तीव्र संवेदना को लेखक इस छोटे-से उपन्यास मे उभारना चाहता था, वह इस प्रयोग मे और भी सघन और तीखी हो गई है। कथानक को उत्तर भाग मे संवेदनात्मक चरम तक ले जाकर छोड दिया गया है, और उसी तीव्र भावात्मक

भूमिका पर सम्पूर्ण कहानी प्रतिघटित होकर फिर उसी चरम पर आ जाती है। उत्कर्ष भाग मे तो कथानक का समाहार-भर है। कथानक मे शिल्प-विधि-सम्बन्धी प्रयोग के लिए सम्भवतः लघु उपन्यास अधिक उपयुक्त है। प्रयोग और सफलता की दृष्टि से ये लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।

कथानक और चरित्रो की दृष्टि से इन उपन्यासो मे स्वभावतः विस्तार नही है। 'बहती गगा' के विषय मे यह बात उचित नहीं जान पडेगी, क्योकि इसमे घटनाओ की योजना लम्बे काल मे फैली हुई है और उसी प्रकार पात्रो की संख्या भी कम नही है। परन्तु यदि इस उपन्यास पर उसी आधार पर विचार किया जाय, जिस पर इसे उपन्यास कहा जाता है, तो यह बात अधिक असंगत नहीं लगेगी। कहा गया है कि इस उपन्यास मे काशी नगरी के चरित्र को भावात्मक प्रभाव की दृष्टि से चित्रित किया गया है। इस दृष्टि से जिस प्रकार काल का विस्तार नष्ट हो जाता है, घटनाओ का क्रम महत्त्वहीन हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न पात्र काशी के जीवन की अद्भुत मस्ती, साहसिकता, और स्वतन्त्रता-प्रियता को व्यक्त करने के माध्यम-मात्र रह जाते है। चाहे १८वी शती के दाताराम नागर, मंगड भिक्षुक हों, या १६वी शती के रामदयाल चित्रकार झालर ठाकुर और शिवनाथबहादुरसिंह हों और चाहे वर्तमान युग के टिन्नू, शहाबुद्दीन, बेनी या पद्मानन्द आदि हों, सभी मे काशी के अनुरूप मस्ती, वीरता तथा प्रेम है। इसी प्रकार सभी-नारियाँ वीरता और प्रेम के लिए उत्सर्ग करने वाली है, चाहे रानी पन्ना, सुन्दर गौनहारी और गोरी हो, चाहे अमीरन, रसिया और गोदावरी हो, अथवा चाहे दुलारी, तारा या गंगा हो, सभी मे एक तेज है, स्वाभिमान है और मर-मिटने की चाह है। कथानक मे अनेक बार पात्रो से एक-सूत्रता भी कायम रखी गई है, पर विच्छिन्न होकर भी कथा अपने वेग मे एकधार बहती गई है। काशी की उन्मुक्त मस्ती का वातावरण प्रस्तुत करने मे लेखक को बहुत अधिक सफलता मिली है। स्थानीय वातावरण के साथ गहरी संवेदना उत्पन्न करने मे ही इस उपन्यास की सफलता रक्षित है।

व्यक्ति-प्रधान तथा मनोविश्लेषण-परक उपन्यासो मे जिस प्रकार दो-तीन पात्रों को ही प्रधानता मिलती है और अन्य पात्र उपस्थित होकर भी तटस्थ रहते हैं, वह बात इन लघु-उपन्यासों मे नही है। इनमे कम पात्र उपस्थित हुए हैं या कम घटनाएँ चुनी गई है, तो केवल इस दृष्टि से कि उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत नही था। वैसे ये सभी उपन्यास व्यक्ति-प्रधान नहीं कहे जा सकते इनमे समाज की पूर्ण भूमिका है। यही कारण है कि इनमे छोटे और साधारण पात्र भी नगण्य नहीं जान पड़ते, वे कथानक मे अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करते है। 'अधूरा उपन्यास' के पद्मकान्त रानो तथा अनुराधा प्रधान पात्र जान पड़ते है, क्योंकि कहानी का मूल तारा इन्हीं को घेरे हुए है। पर कथानक के विस्तार मे अनेक पात्र आये है और उनका भी समान महत्त्व है। इस दृष्टि से तो प्रधान पात्रो को कोई विशेष विस्तार भी नहीं मिला है। पद्मकान्त के मामा रमाचरण, उनके मित्र रामलाल तथा रामेश्वरी के पति ने कथानक के विकास मे योग दिया है, साथ ही सामाजिक ढाँचा भी इनके माध्यम मे प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भाभी, लड़की की माँ, रानो की माँ तथा रामेश्वरी आदि नारी-पात्रो का सहयोग कथा मे आवश्यक है और वे सामाजिक समस्याओ को स्पष्ट करने मे भी सहायक हुई हैं। इन समस्त पात्रों मे लेखक ने स्पष्टता पूर्वक सामाजिक ढाँचे को चित्रित किया है, उसे कहीं अपनी ओर से व्याख्या करने

की जरूरत नही हुई। चरित्रो के माध्यम से कथानक सहज भाव से आगे बढ़ता गया है, लेखक ने घटनाओ को अपनी ओर से गढ़ने या उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया, यही उसकी सफलता है।

श्री लक्ष्मीनारायणलाल अपने उपन्यास 'बया का घोसला और सॉप' मे अधिक सामाजिक अन्तर्दृष्टि के साथ हमारे सामने आये है। उनके पिछले उपन्यास 'धरती की ऑखे' मे ग्रामीण जीवन का चित्र था, पर वह कल्पना के रगो से अतिरंजित तथा भावुकता से उद्वेलित था। उसमे लेखक की शक्ति और प्रतिभा के अंकुर अवश्य थे, पर संयम तथा अन्तर्दृष्टि की कमी थी। इस उपन्यास मे देहात और कस्बे के जीवन का सच्चा नक्शा है—बिना अतिरंजना और कल्पना के योग के। लेखक की भावुक प्रकृति इसमे भी परिलक्षित हुई है, पर वह कथा को सवेदक बनाने मे सहयोगी हुई है। इस लघु उपन्यास की आधार-भूमि सामाजिक है, इसमे देहाती प्रकृति तथा समाज का बहुत ही सूक्ष्म वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इसमे आनन्द, सुभागी, रामानन्द तथा कामताप्रसाद तहसीलदार प्रमुख पात्र अवश्य हैं, पर सामाजिक आधार-भूमि पर जमुना, बंती जीजी, रत्ती, पारो, बुआ, सरजू आदि का कम महत्त्व नही है। सामाजिक परिस्थितियो को अधिक स्पष्ट करने तथा समस्याओ को उपस्थित करने की दृष्टि से पदारथ काका, जग्गी पण्डित से लेकर मुन्शी रामरखलाल तथा गिरजादयाल तक का महत्त्व है। इस उपन्यास मे सिकन्दरपुर तथा पुरैना के माध्यम से उत्तर प्रदेश के गाँवो और रामनगर के माध्यम से वहाँ के कस्बो के विषाक्त जीवन को बहुत निकट से स्पर्श किया गया है। कथानक की गति जितनी तीव्र है, पात्रो का विश्लेषण भी उतना ही गहरा है, यद्यपि अनेक स्थलो पर ऐसा जान पडता है कि लेखक ने जल्दबाजी की है और चरित्र के विषय मे उसकी दृष्टि तल तक नहीं पहुँच सकी है।

साहित्यिक के लिए सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न है ही, पर आज के युग मे वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को भुला नही सकता। इस दृष्टि से हमारे इन लेखको ने प्रेमचन्द की परम्परा मे नये हस्ताक्षर अंकित किये है। यह व्यक्ति-परक उपन्यासकारो की परम्परा से भिन्न है। जो केवल मतवादो की व्याख्या तथा स्थापना को ही सामाजिक तथा स्वस्थ परम्परा मानते है, संयोग से मेरा मत उनसे भिन्न है। मै सब मिलाकर साहित्यिक कृति की अपील पर बल देने वालो के वर्ग का हूँ। और इस दृष्टि से ये तीनो लघु उपन्यास स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्ति के परिचायक है। 'बहती गंगा' का स्वर बहुत-कुछ ऐतिहासिक-सा जान पडता है, पर उसकी अपील सामाजिक है। इस बदलते हुए युग मे जिन नये मूल्यो, आदर्शों और स्थापनाओ की ओर इसमे संकेत किया गया है वे सामाजिक चेतना के परिणाम है। 'अधूरा उपन्यास' का नायक पद्मकान्त तथा 'बया का घोसला और सॉप' का नायक आनन्द बहुत-कुछ सामाजिक परिस्थितियो मे निष्क्रिय-से है, वास्तव मे आज के ये प्रतिनिधि पात्र है। अगर ऐसा न दिखाया जाता तो ये पात्र अस्वाभाविक ही अधिक बन पडते। पर 'अधूरा उपन्यास' मे परिस्थितियाँ स्वयं पद्मकान्त के मन को बदल रही है, श्रीराम तथा अनुराधा का सहयोग भी एक सीमा तक माना जा सकता है। आनन्द के मन मे तीव्र आघात से लेखक ने स्वतः विद्रोह उत्पन्न किया है। यह विद्रोही भावना सामाजिक सन्तुलन का संकेत भी छिपाये हुए है, इसमे भी कोई सन्देह नही। यह बात दूसरी है कि आनन्द ने अपने मानसिक संघर्ष के इस अवसर पर आघात-पर-आघात सहकर भी वर्ग-संघर्ष पर कोई भाषण नही दिया है।

प्रेमचन्द की परम्परा का उल्लेख मैंने अभी किया है। भाषा की दृष्टि से भी ये लेखक इसी परम्परा में आते हैं। तीनों लेखकों ने अपने-अपने ढंग से भाषा का व्यावहारिक गतिशील रूप अपनाया है। इस भाषा में सहज अभिव्यक्ति की शक्ति है। हिन्दी का अपनापन इन रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कहीं कोई अनगढ़ रूप या प्रयोग भी मिल सकता है, पर यह जीवित भाषा का लक्षण है। इन रचनाओं को देखकर हिन्दी के लेखकों से आशा बँधती है कि वे आगे आने वाले अपने उत्तरदायित्व के योग्य अपने को सिद्ध करेंगे।[1]

●

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान

नये मोड़

'नये मोड़' उदयशंकर भट्ट का दूसरा उपन्यास है। कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, शैली, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से 'नये मोड़' एक सफल रचना है। भट्टजी ने वास्तव में अपने साहित्यिक जीवन में एक नया मोड़ लिया है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे यदि इस नवीन पथ पर चलते रहे तो कहीं-न-कहीं अवश्य पहुँच जायेंगे।

'नये मोड़' एक चरित्र-प्रधान उपन्यास है, जिसमें लेडी-डॉक्टर शेफाली के चरित्र को आधार बनाकर इसकी रचना की गई है। एक बार शेफाली का विवाह हो चुका है। पति से परित्यक्ता नारी रोगियों की सेवा में इतनी लीन हो जाती है कि वह यौवन को कुछ समय के लिए भूल-सी जाती है। परन्तु अपने हृदय के स्पन्दन को वह कब तक अनसुना कर सकती है! प्राणनाथ बैरिस्टर से प्रेम हो जाने पर भी शेफाली उससे प्रेम नहीं कर सकती। उसका पहला पति, जिसने दूसरा विवाह कर लिया है, कानून की शरण लेकर उसके विवाह को रोक सकता है। शेफाली सब-कुछ जानती थी, फिर भी उसने प्राणनाथ से विवाह करना स्वीकार कर लिया। समाज में एक तूफान आने वाला था। 'क्या कभी ऐसा हुआ है कि एक विवाहिता नारी पति के रहते दूसरे को पति-रूप में वरण करे।' इस समस्या को लेखक ने पाठकों के सामने रखा है। यह समस्या शेफाली के सम्पूर्ण चरित्र को समेट लेती है। इसी उधेड़-बुन में उसका समस्त जीवन बीत जाता है। डॉक्टरी का काम जीवन के विषाद को क्षण-भर के लिए भुलाने का उपाय है। [illegible] शेफाली के चारों ओर घूमते रहते हैं और उसके चरित्र के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। साधना अपने नाम को सार्थक करने वाली जीवन की साधना के रूप में आती है। सुषमा में यौवन की चंचलता, मादकता और भावुकता है। हीरादेई पीड़ित और [illegible] हुई भारतीय नारी का प्रतीक है। वह जीवन-पथ पर चलते-चलते थक जाती है।

1. [illegible]: लेखक—जनार्दन मुक्तिदूत, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई। बहती गंगा: लेखक—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। बया का घोंसला और साँप: लेखक—डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल, प्रकाशक—[illegible] प्रकाशन गृह, प्रयाग।

राममोहन और प्राणनाथ के चरित्र सजीवता, सत्यता और स्वाभाविकता को लिये हुए हैं। चरित्र-चित्रण में प्रायः दो शैलियों का अवलम्बन लिया जाता है—विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक। लेखक शेफाली, शुभदा, हीरादेई, प्राणनाथ, राममोहन आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक शैली को अपनाकर स्वयं अपने शब्दों में करते हैं। वे कवि हैं, नाटककार होते हुए भी पहले कवि हैं, इसलिए उनके लिए तटस्थ रहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

उपन्यास का कथानक कटा-छटा और सम्बद्ध है। कहीं-कहीं विस्तृत वाद-विवाद उसे क्षीण बना देते हैं, परन्तु उसमें अव्यवस्था नहीं आने देते। लेखक ने आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक समस्याओं पर पात्रों के द्वारा लम्बे-लम्बे परिसंवाद करवाए हैं, जिनमें घटना-क्रम की गति में बाधा पड जाती है। मनोविश्लेषण भी जहाँ जीवन की छाप को गहरा बनाता है वहाँ कथानक के वेग को रोकता है। शेफाली प्राणनाथ के चले जाने पर सोचती है : **"क्या यह सेक्स नहीं है जो मुझे उत्साहित करता है, फिर क्या मेरे हृदय में ऐसी भावना नहीं उठती, क्या उसे छिपाकर एक प्रकार का आडम्बर मैं नहीं करती, फिर यही मैं कब भूलती हूँ कि मैं स्त्री हूँ ' ' सेक्स-वृत्ति स्त्रीत्व और पुरुषत्व के रहते जा ही नहीं सकती। जिन महापुरुषों, साधु-सन्तों को हम इस भाव से ऊपर पाते हैं वे निस्पृह वीतराग होते हैं। वे समाज में नहीं रहते, किन्तु कौन कह सकता है कि उन्हें सेक्स कभी सताता ही नहीं है।"** इस तरह की उधेड-बुन शेफाली के चरित्र को तो गम्भीर बना देती है, परन्तु साथ ही कथानक का ह्रास भी करती है। 'नये मोड' में लेखक मनोविज्ञान और दर्शन का सहारा लेता है। शिक्षित पात्र जीवन की समस्याओं को समझने का प्रयत्न करते हैं। यह इस युग की देन और पुकार है। उपन्यास में बौद्धिक दृष्टिकोण और विचारों का प्राधान्य कथानक को दबोच लेते हैं और उसे दबाकर रखते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास चरित्र-प्रधान होते हुए भी समस्या-मूलक है। वैसे तो सभी उपन्यासों में कुछ विशेष विचार और सिद्धान्त आप-से-आप आ जाते हैं, परन्तु 'नये मोड' में एक निश्चित उद्देश्य है। क्या एक विवाहिता नारी, जिसका पति जीवित है और जिसने उसका परित्याग कर दूसरा विवाह कर लिया है, दूसरी शादी कर सकती है। भारतीय समाज में कानून इसकी आज्ञा नहीं देता। सामाजिक बन्धन बड़े कडे और कठोर हैं। उपन्यास के अन्त तक पहुँचकर यह भय लगने लगता है कि लेखक शेफाली का विवाह करवा देगा, शहनाई बजकर रहेगी, परन्तु कठोर यथार्थ लेखक के हाथ पकड लेता है और इस सुखद परिणाम से रोक लेता है। दुःखान्त नाटकों का रचयिता इस उपन्यास को कैसे सुखान्त बना सकता था? शेफाली और शुभदा अँधेरी रात को अस्पताल से निकल पड़ी : **'लैम्प की रोशनी में, बीच-बीच में कहीं अंधकार और कहीं प्रकाश में, वे दोनों आशा-निराशा के दोनों कदमों से डामर की सडक पार करती जा रही थीं—दूर, बहुत दूर, किसी नये लक्ष्य को पाने के लिए, किसी 'नये मोड' की तलाश में, जहाँ यह सब-कुछ न हो। समय के पंखों पर जहाँ विवेक नई ज़िन्दगी लिये उड़ रहा हो। वे जा रही थीं अपने चारों कदमों से रूढ़ियों को कुचलती, पुराना छोडती, नया नापती—हर 'नये मोड' पर।'** यह आशावाद की दृष्टि से तो सराहनीय है, पर लेखक इस पलायनवाद की धारा में बहकर यह नहीं सोचते कि केवल चार कदम किस तरह परम्परागत रूढ़ियों को कुचल सकते हैं। चार कदम, जब वे चारों ही कोमल और सुकुमार हों? फिर भी उपन्यासकार ने समस्या का

समाधान न करके अपनी रचना के स्तर को कलात्मक दृष्टि से ऊपर उठा दिया है और जीवन के समीप ला दिया है। यह इसकी विशेषता है। उपन्यास की भाषा-शैली सरस और सरल है। अंग्रेजी शब्दों की भरमार होते हुए भी भाषा का प्रयोग शिक्षित समाज के अनुकूल है। अन्त में प्रेमचन्द के शब्दों में मैं इस उपन्यास को मानव-जीवन का एक सफल चित्र समझता हूँ। मानव-चित्र पर भट्ट जी ने पूरा प्रकाश डाला है और उनके रहस्यों को खोलने का पर्याप्त प्रयत्न किया है।[1]

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार ?

कला का वास्तविक उद्देश्य स्वानुभूत सत्य की अभिव्यंजना है और यह अभिव्यंजना कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी धारणा-शक्ति तथा व्यापक दृष्टि से समाहृत होकर उसकी कृति में अवतरित होती है। व्यक्तित्व—उसकी सामाजिक चेतना, मानसिक स्थितियों और जीवन के प्रति दृष्टिकोण से सम्बद्ध रहता है, उसीके अनुसार उसकी रुचि तथा अरुचि का भी पता चलता है, इसीमें उसकी धारणा-शक्ति और व्यापक दृष्टि का लक्ष्य और साधन भी निहित रहता है। कोई घोर व्यक्तिवादी जीवन-व्यवस्था अपनाकर भी समाज को व्यापक दृष्टि से देखने की क्षमता रख सकता है और कोई समाज का सेवक होकर भी विकृत कुण्ठाओं का ग्रास बन सकता है। इसीलिए कला के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में अक्सर बहुत से नारे अथवा बहुत से 'वाद' अपना सफल प्रचारात्मक महत्त्व रखते हुए भी उन सभी विकृतियों के ग्रास हो जाते हैं।[2]

कृष्णचन्द्र प्रगतिवादी विचार-धारा के प्रमुख समर्थकों में से हैं और उनसे इस बात की आशा की जाती है कि वह फ्रायड की उन बहुत-सी सेक्स-सम्बन्धी धारणाओं के कट्टर विरोधी होंगे जो तथाकथित प्रगतिशील तत्त्वों को तिरस्कृत करके जीवन का सर्वथा भिन्न अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। शायद वह यह भी जानते होंगे कि 'डिकेडेण्ट' बूर्जुआ सोसाइटी के विरोध में कुछ-न-कुछ शक्तियाँ ऐसी होंगी जो सर्वदा जीवन के स्वस्थ तत्त्वों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होंगी। किन्तु जहाँ तक उनकी कृतियों का सम्बन्ध है खासकर—'तूफान की कलियाँ', 'सराय के बाहर' और 'पाँच रुपये की आज़ादी'—इन तीनों में उनकी अन्तर्मुखी चेतना सेक्स की ऐसी विषम परिस्थितियों में उलझी हुई है कि इनको न तो वस्तु-स्थिति-चित्रण के आधार पर उचित कहा जा सकता है, न ही उनकी धारणा को किसी वैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्थान-विशेष की परम्परा कहकर

1 लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—सस्तिजीवी प्रकाशन, दिल्ली।
2 "Whatever feelings art proposes to excite in us, they ought always to be restrained and governed by the feeling of beauty. If it produces only pity or terror beyond a certain limit, above all physical pity or terror, it revolts, it ceases to charm, it misses its proper effect, for an effect which is foreign to it and vulgar."

—Victor Cousin

ढाला जा सकता है। निश्चय ही इन कृतियो मे एक विशेष प्रकार की विकृति है जो स्वस्थ साहित्यिक परम्परा के विरुद्ध है। वे जीवन-तत्त्व, जो एक उच्च कलाकृति[1] से अपेक्षित हैं, उनमे से एक भी उचित रूप मे नही है और अगर है भी तो इतने कमजोर कि वासना की भूख मे वे सभी पथ-भ्रष्ट, लक्ष्य-भ्रष्ट और अन्धे है।

इस प्रकार कृष्णचन्द्र की तीन पुस्तकें—'तूफान की कलियॉ' (उपन्यास), 'सराय के बाहर' (एकांकी रेडियो नाटक) और 'पॉच रुपये की आजादी' (कहानी-संग्रह)) उर्दू-लेखको और कथाकारो के उस प्रयास की प्रतीक है जो मुन्शी प्रेमचन्द की सफल और सजीव परम्परा का विकृत और असफल अनुकरण-मात्र बनकर रह गया है। पिछले कुछ दिनो से उर्दू के लेखको द्वारा यह परम्परा बडी तेजी से अपनाई जा रही है और काफी उर्दू का साहित्य नागरी लिपि मे मौलिक हिन्दी-कृति के नाम से प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रयास मे इस बात की चेष्टा की जा रही है कि उर्दू-कथा-साहित्य को नागरी लिपि और यहॉ वहॉ हिन्दी के वातावरण मे ढालकर प्रस्तुत किया जाय और उस सफल प्रवृत्ति को फिर से प्रचलित किया जाय, जो प्रेमचन्द जी की स्वानुभूति और आत्म-प्रेरणा के फलस्वरूप जागरूक हुई थी। कृष्णचन्द्र उर्दू के सफल कथाकारो मे से माने जाते है और कुछ आलोचक तो उन्हें प्रेमचन्द जी के बराबर भी कहने लगे है, किन्तु अनुकरण और स्वानुभूति मे मौलिक अन्तर होना स्वाभाविक है। कृष्णचन्द्र और प्रेमचन्द की शैली, शिल्प-विधान, कथावस्तु, दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन मे वही अन्तर है जो एक आत्म-प्रेरित और स्व-स्थापित कलाकार मे होता है। यही कारण है कि उर्दू की बहुत-सी सफल कहानियॉ हिन्दी मे अनूदित होने पर वातावरण की भिन्नता के कारण और भाषा तथा भाव-शिल्प मे पृथक् होने के कारण उतनी सफल नही होतीं। क्योकि :

- प्रेमचन्द भारतीय जीवन और संस्कार के मर्मज्ञ थे। उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भारतीय और व्यापक मानववादी था। वह एक साधारण भारतीय जीवन और उसके विभिन्न अंगो को गहराई की दृष्टि से देखते थे, मानवीय सवेदनाओ के प्रति ईमानदार थे। कृष्णचन्द्र के दृष्टिकोण मे उस व्यापक मानववाद का अभाव है। 'अन्नदाता' के बाद का युग उनकी कला की उस कठोर प्रतिक्रिया का परिचायक है जिसमे कृष्णचन्द्र कथा-साहित्य की अपेक्षा 'वाद' विशेष को महत्त्व देने लगे। फलस्वरूप उनकी तीखी शैली वास्तविक जिज्ञासु और स्वानुभूत शैली से पृथक् अतिवादी संकीर्णता की दलदल मे फॅसकर लचर और पोली हो गई। दृष्टिकोण मे परिवर्तन आने से 'वस्तु-सत्य' की उपेक्षा और असन्तुलित भावनाओ का प्रतिपादन भी स्वाभाविक हो गया। आज का उनका साहित्य कुछ बेढंगे चित्रो, खुरदरे, अनगढ, अव्यवस्थित और असंयमित पात्रो; भूख, रोटी, सेक्स, घृणा और वासना की रुग्ण ग्रन्थियो मे डूबता-उतराता-सा प्रतीत होता है और उनकी कला एक प्रेत-काया की-सी आत्मा की खोज मे भटकती-सी मालूम होती है।
- प्रेमचन्द की समस्याऍ वास्तविक जीवन की समस्याऍ थीं। न तो वह उस

---

1 "For a work which has no correspondence with the facts of life or which violates any of the universal or fundamental beliefs of mankind is useless, however graet its purely artistic qualites may be"

—*Worsfold.*

जीवन से टूटकर केवल कल्पना-लोक मे भटकते थे और न वह उस समस्या को खीचकर इतना बढाते थे कि वह बीच ही से टूटकर खण्ड-खण्ड हो जाय। अपनी कृतियो मे प्रेमचन्द ने अपने पात्रो को इतनी सजगता और कर्मठता दी है कि वह लेखक का केवल सहारा-मात्र लेते है, उसकी उँगली पकडकर या स्वयं उसके कन्धो पर निर्जीव शव के समान नही चलते। यही कारण है कि कट्टर आर्यसमाजी और गाधीवादी होते हुए भी प्रेमचन्द ने अपनी कला-कृतियो मे अपना व्यक्ति उसी अंश तक आने दिया है जिस अंश तक वह अनिवार्य था। इसके विपरीत कृष्णचन्द्र, चाहे वह काश्मीर की कहानी का वर्णन अखरोट या चनार के वृक्षो तले करे, चाहे बम्बई की फिल्मी दुनिया मे प्रवेश करके उसका रहस्योद्घाटन करे, उनकी व्यक्तिगत ग्रन्थियाँ प्रत्येक जगह स्पष्ट उभर आती हैं। कृष्णचन्द्र के पात्रो को देखकर ऐसा लगता है जैसे उनका स्वाभाविक रूप कुछ और है और जैसे वह स्वयं पाठको से चीख-चीखकर यह कह रहे हो कि उनका वास्तविक रूप कृष्णचन्द्र ने कुत्सित कर दिया है। वैसे उस कुरूपता से यदि कुछ भी झलक मिल सके तो वही उनका वास्तविक रूप है।

प्रेमचन्द जी जीवन-सत्य के पोषक थे, इसलिए वह वस्तु-सत्य का निर्वाह भी बडे सरल स्वाभाविक ढंग से करते थे। कृष्णचन्द्र वस्तु सत्य के दृग्-भ्रम मे जीवन-सत्य की अनुभूति से शून्य हो जाते हैं। वह हर चेहरे पर अपना रोगन लगाना चाहते है, अपने नियन्त्रण मे रखकर उसे अपाहिज और लँगडा बना देते है। उनके प्रत्येक पात्र मे सस्ते और भद्दे 'सेक्स आबसेशन्स' है। यो तो प्रेमचन्द भी विद्रोही थे। कृष्णचन्द्र के विद्रोहियो की भाँति वह 'लाइसेन्स' नही लेते थे और न ही वह कायर या भीरु थे इसीलिए प्रेमचन्द और कृष्णचन्द्र को एक साथ बैठाकर समान तुलना करने वाले यह भूल जाते है कि प्रेमचन्द की आँखो पर न तो कोई चश्मा था, न हृदय मे कोई कुण्ठा ही थी। उनके अन्दर एक पैनी दृष्टि थी, जो जीवन के विशाल फलक से प्रेरणा ग्रहण करती थी और यह अन्तर एक उच्च कोटि के कलाकार और एक मध्यम श्रेणी के कलाकार मे सदैव रहा है।

[illegible] यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस समय स्वयं उर्दू के कथा-साहित्य [illegible] परिवर्तन आ रहे है और उर्दू कथा-साहित्य मे कुछ ऐसे कथाकार भी है जो किसी भी भाषा के उच्च कथाकारो के समक्ष बैठाये जा सकते है। इस दृष्टिकोण से अहमद नदीम [illegible], [illegible] हसन मण्टो, कन्हैयालाल कपूर, राजेन्द्रसिह बेदी, इस्मत चुगताई तथा [illegible] उल्लेखनीय है। ऐसा लगता है कि कृष्णचन्द्र जी पिछले दस सालों मे केवल एक [illegible] दिशा मे देखते रहे हैं। उनकी दृष्टि सर्वग्राही न होकर एकागी [illegible] Co[illegible] Pl[illegible] की हो गई है।

[illegible] के [illegible] पर विचार करने के पूर्व दो-तीन बातें विशेष रूप [illegible] है — पहली तो यह कि जिस प्रकार की भाषा इन पुस्तको मे प्रयोग की गई [illegible] है। किसी भी लेखक का यह दावा सदैव [illegible] (Conscious Effort) करेगा कि वह [illegible] मे कुछ कर रहा है। 'दॉन दसवे

की आजादी' नामक पुस्तक की भूमिका में प्रस्तावित वाक्य "यदि संस्कृत के विकृत रूप को हिन्दी मानकर चलेंगे तो वह चलाये तो चल लेगी पर स्वयम् चलकर बढ़ेगी नहीं" इस बात को प्रमाणित करता है कि कृष्णचन्द्र जी ने जान-बूझकर कुछ नया भाषा-प्रयोग करना चाहा है और निश्चय ही वह इस प्रयोग में भी सफल नहीं हुए हैं।

हिन्दी-कथा-शैली के जो सशक्त प्रयोग 'शेखर एक जीवनी', 'त्याग-पत्र', 'मुर्दों का टीला', 'संन्यासी', 'बहती गंगा', 'बया का घोंसला और साँप', गिरती दीवारें' आदि में हो चुके हैं, उनको पढ़ना तो दूर शायद उन्होंने उसके विषय में सुना भी नहीं है। इसके बावजूद अपनी २० साल पिछड़ी हुई शैली लेकर जब वे हिन्दी को शिक्षा देने चलते हैं तो निःसन्देह इस सादगी पर मर जाने की तबियत होती है। हिन्दी-उपन्यास अकृतज्ञ नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं से उसने बहुत-कुछ लिया है। शरत् और मुन्शी का उसने मुक्त हृदय से स्वागत किया है। आज भी मण्टो और बलवन्तसिंह, अमृता प्रीतम, ताराशंकर और बनफूल की गति-विधि को उत्सुकता से देखा जा रहा है। लेकिन कृष्णचन्द्र?

एक तीसरी बात भी है; क्योंकि कृष्णचन्द्र प्रगतिशील लेखक हैं इसलिए प्रगतिशील भाव-धारा से भी उनकी कृतियों का मूल्यांकन करना आवश्यक है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि रूप-विधान का कायल होना गुनाह है तो निश्चय ही विषय-वस्तु का विश्लेषण करके स्वस्थ, प्रगतिशील तत्त्वों की परख लेखक द्वारा अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में एक बहुत ही मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है और वह यह कि क्या 'रोटी-रोटी' चिल्लाना ही प्रगतिशीलता है, या रोटी के लिए संघर्षयुक्त प्रयत्न करना? जहाँ तक तथाकथित प्रगतिशील भाव-धारा के माध्यम से देखने का प्रश्न है निश्चय ही ये पुस्तकें उस परम्परा को भी आगे नहीं बढ़ातीं, न तो इनमें वर्ग-संघर्ष का वैज्ञानिक विश्लेषण है और न ही सामन्तवादी, बूर्जुआ, फासिस्ट शक्तियों के विरोध में उठता हुआ एक भी सशक्त स्वर। न तो इसमें किसी ऐसे समाज की चीर-फाड़ ही है जो सड़-गल रहा है और न ही उसमें एक नये निर्माण की कल्पना।

जहाँ तक उपन्यास का सम्बन्ध है उसका घटना-काल "नाईलान और प्लास्टिक का जमाना है", फिर भी उस उपन्यास को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि कोई बीसवीं शताब्दी के युग की कहानी पढ़ रहा है। यद्यपि कहानी काश्मीर की घाटियों में अंकुरित, विकसित और समाप्त होती है फिर भी काश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों और वातावरण को छोड़कर उसमें कितना अंश वहाँ के वास्तविक जीवन का है तथा वहाँ की जनता का है यह विवादास्पद हो सकता है। सारे उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सारा काश्मीर एक 'कामरू-कमच्छा' का देश है, जहाँ केवल वासना की भूख, देह की भूख और 'पेण्डिमोनियम' के सिवा और कुछ नहीं है। न तो काश्मीरियों में कोई आस्था है न विश्वास, न तो कोई सामाजिक व्यवस्था है न शासन, न वहाँ मनुष्यत्व है न ईमान। जैसे सारे-का-सारा काश्मीर अनास्थावान, निराश, दुर्बल और बिना कमर के मनुष्यों का देश है जहाँ कोई भी व्यक्ति कभी भी अपने आदर्शों से फिसल सकता है। इस प्रसंग में मैं केवल 'जहाँ फरिश्ते अण्डे बेचते हैं' शीर्षक एक छोटी-सी मराठी कहानी का संकेत करना चाहता हूँ जो 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' में छपी है। इस छोटी-सी कथा में एक छोटे-से काश्मीरी बच्चे के अदम्य साहस का चित्रण है, जो भारतीय फौजों को अण्डे बेचता था। कथा अत्यन्त मर्मस्पर्शी है और काश्मीर ने जिस अदम्य साहस से विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध

लड़ाई की थी इसका एक अद्भुत उदाहरण है। मैं सोचता हूँ यदि कृष्णचन्द्र उस कथा को फिर से लिखें तो वे अवश्यमेव उस बच्चे की कोई बहन ढूँढ निकालेंगे और फिर उसके गोरे जिस्म को उनकी कलम उघाड़ना शुरू कर देगी। इस तरह प्रेमचन्द्र की परम्परा का उद्धार हो जायगा।

संक्षेप में, इस उपन्यास में यही है। शहर से गाँव जाते हुए एक नवयुवक एक पहाड़ी नवयुवती से मिलता है लेकिन बिना कुछ जाने-बूझे दोनों की 'मूक संवेदनाएँ' टकराती हैं और यकायक दोनों ही अप्रस्तावित रूप से इस स्थिति में पाये जाते हैं :

"··· इस चाँदी के गुबार के हल्के-हल्के प्रकाश में अब्दुल धीरे से उठा और उसने झोंपड़ी के सामने लेटी हुई बानो की धड़कती हुई छाती पर अपने हाथ रख दिए···बानो ने कुछ नहीं कहा—उसने उस समय भी कुछ नहीं कहा जब अब्दुल ने उसे अपनी मजबूत बाँहों में उठाकर अपनी काँपती हुई छाती से लगा लिया। बानो उस समय भी चुप रही जब अब्दुल ने उसे यों उठाकर लकड़ी के बुरादे के ढेर पर पटक दिया, बानो उस समय भी चुप रही जब वह भी उसके निकट ही बुरादे पर लेट गया। अब्दुल ने हौले-हौले अपनी उँगलियों से बानो के चेहरे को अपनी ओर फेर लिया, अब्दुल ने अपने होंठ बानो के होठों पर रख दिए ··· ''

यही अब्दुल एक तरह से उपन्यास का नायक है जो एक दूसरी स्थिति में गाँव के बनिये की बीवी को अपने निकट पाकर :

"···उठकर बैठ गया। बैठकर खड़ा हो गया। खड़ा होकर उस सूरत की तरफ बढ़ने लगा। और हल्के उजाले में उसे गोमती के रहस्यपूर्ण होंठ और जादू-भरी आँखों की वहशी चमक एक अजीब-सा पैगाम देती हुई मालूम हुई। अब्दुल का दिल काँपने लगा—और नूरो (बानो) बहुत दूर थी और गोमती के शरीर की पुकार बहुत निकट थी और स्वयं उसका दिल बहुत जोर-जोर से धक्-धक् कर रहा था—उसे इस जवानी में भी भय आने लगा—वह सरकते हुए सूखी घास पर बैठ गया एक दूसरे के पास-पास उसने दोनों हाथों में अपना मुँह छिपा लिया—अब्दुल ने उसे अपनी छाती से लगा लिया—'मुझे मत छुओ' गोमती ने उसे धक्का देकर कहा। अब्दुल हैरान रह गया।"

एक तीसरी स्थिति में यही अब्दुल, जो विद्रोही है, जनता का नेता बनता है, किसानों का नेता बनता है, अपनी बहन और प्रेमिका का बदला लेना चाहता है, एक अपरिचित लड़की से केवल इतना पूछने पर कि—"पहले तुम बताओ, तुमने हमारे फूलों को क्यों छुआ" उत्तर देता है कि—'मैं तुम्हें भी चूमने को तैयार हूँ'—और इन सबकी पराकाष्ठा तो तब होती है जब वह [illegible] इत्तहादी नाग छोड़कर रजाकार-पार्टी में शामिल हो जाता है और हिन्दुओं के बारे में कहता है : "तो क्या तुम हिन्दुओं को मुसलमान देखकर [illegible] नहीं होंगे ··· अगर-मगर कुछ नहीं, मैं साफ-साफ पूछना चाहता हूँ··· क्या तुम [illegible] के [illegible] करते ··· "

उपन्यास के केवल नायक ही इन भावनाओं से पीड़ित नहीं हैं. उसके सभी पात्र चाहे [illegible] अब्दुल की भाँति वासना-प्रिय, बलात्कार [illegible] चित्रित किये गए हैं।

यदि सभी पात्रों का अध्ययन निम्न लिखित रूप से किया जाय तो पता चलेगा कि उपन्यास की एकरूपता केवल विकृत सेक्स के प्रदर्शन में ही है। जैसे :

इसी उपन्यास का एक दूसरा पात्र नौनिहालसिंह कहता है : "शादी में क्या धरा है ? जब तक औरत से ज़बरदस्ती न की जाय ज़िन्दगी में धरा क्या है···"[1]

राजकुमार संग्रामसिंह अंग्रेज रेजिडेण्ट की लडकी मौली के बारे में सोचता है : "इस मखमली आरामकुरसी के सीने में अगर कोई कमी थी तो बस मौली की नाज़ुक बाँहों की। उसकी छाती का वह भाग, जो नंगा था···वहाँ कितनी उज्ज्वल सफ़ेदी थी···जैसे उस सफेदी के नीचे से प्रभात झाँक रहा हो।"[2]

फ़ज़लू ने, जो साम्प्रदायिक विद्रोह में अञ्जुमने-मुसलमीन का नेता है, एक हिन्दू लडकी भाँगा को पकडकर···"खींच-खींचकर अपनी गोद में लिया। और उसने पहले तो उसकी भीगी-भीगी पलकें चूम लीं, फिर उसने अपने होंठ उसके होंठों से मिला दिए। भाँगा के होंठ शहद की तरह उसके होंठों में घुल गए और यह मधु चुम्बन उसके होंठों में ऐसा रचता गया जैसे समुद्र की लहर प्यासे रेत के अन्दर धँसती चली जाती है।"[3]

मीराँ शाह, जो काश्मीर के सारे अफ़सरों की मेहमानदारी अपनी पत्नी गोमती के शरीर के माध्यम से करता है, स्वयं एक नौजवान लड़की 'गुल' के बारे में सोचते-सोचते : "गुल इन्कार करती गई। ज्यों-ज्यों कोठरी नज़दीक आती गई लाला (मीराँ शाह) का आग्रह बढता गया और गुल का प्रतिरोध बढ़ता गया···अब लाला बिलकुल अपने-आपे में न रहा था। अब उसका दम फूल रहा था और चेहरा क्रोध से काला पड रहा था···"[4]

और उसी उपन्यास के एक अन्य पात्र डोगरा-राज्य के बडे अफ़सर कहानसिंह का यह हाल है कि :

"और यह तो सचमुच बड़ी जवान है"—कहानसिंह ने गुल को देखकर कहा।

"मुझे जाने दो।"—गुल चिल्लाई।

"भादों तो बहुत दूर है और रात आज जवान है और मेरे हाथ बहुत मज़बूत हैं।"[5]

उपन्यास के दो पात्र राजा करमअली और जहमतअली दो विस्थापित हिन्दुओं की लडकियों के साथ व्यभिचार करने के लिए कहते हैं :

"नहीं, बडी तुम ले लो, छोटी मुझे दे दो, मंजूर···" "अरे बडी लडकी उससे कहीं ज्यादा खूबसूरत है"····"खूबसूरत है तो उसे तुम ले लो"····"मैं एक तरकीब बताता हूँ"····"क्या"····"लाटरी डाल लो।"[6]

और उपन्यास का कथानक उतना ही विशृङ्खल, टूटा हुआ, अव्यवस्थित और असन्तुलित कूडा-कर्कट (Trash) है, जितनी कि सेक्स-प्रधान विकृतियाँ। जिस प्रकार के रोमांस, प्रणय अथवा प्रेम की स्थापना इसमें की गई है शायद उतना कुत्सित और वीभत्स रूप हिन्दी के किसी भी और उपन्यास में नहीं मिलेगा। सारे उपन्यास में यह भी पता नहीं चलता कि नायक कौन है, नायिका कौन है, कथा-सूत्र का केन्द्र-विन्दु कहाँ है, लेखक का लक्ष्य क्या है। अब्दुल्ला, बानो, फ़ज़ल, रज्जी, गंगा, सरस्वती, हशमत, शौकत, संग्रामसिंह, मौली, मीराँ शाह और गोमती

१. पृष्ठ २४७, २. पृष्ठ २४८, ३. पृष्ठ ३०४, ४. पृष्ठ १२१, ५. पृष्ठ १२२, ६. पृष्ठ ४८

की रचना किसलिए की गई है ? लगता है लेखक को कुछ गालियाँ डोगरा-सरकार को देनी थी, कुछ काश्मीर के हिन्दुओं को, कुछ मुसलमानों को और कुछ अंग्रेजों को। इन सबके अतिरिक्त उसकी मन्शा कुछ घुटती हुई सेक्स-भावनाओं को लिखना था, तन की गर्म आँच में वासना की उद्दीप्त भावनाओं को जगाकर एक सनसनी पैदा करना था और इन सबको एक डोरी में बाँधकर उपन्यास का नाम देना था और इन सबको मिलाकर एक उपन्यास का नाम दे भी दिया गया है। वैसे यह उपन्यास विशुद्ध साहित्यिक उपन्यास न होकर एक अच्छा जासूसी उपन्यास हो सकता था, किन्तु साहित्यिक उपन्यास बनाने के मोह में इसका वह गुण समाप्त हो गया है।

यद्यपि कृष्णचन्द्र की दूसरी पुस्तक 'पाँच रुपये की आजादी' में भी वही विकृत सेक्स-प्रधान तत्त्व मौजूद हैं, लेकिन फिर भी उसमें कहानी-कला के कुछ तत्त्वों को उपन्यास की अपेक्षा अधिक सफलता से निभाया गया है। इस दृष्टिकोण से संग्रह की प्रथम कहानी 'गीत और पत्थर' उल्लेखनीय है। इसमें सेक्स-कुण्ठा की प्रतिक्रिया-स्वरूप जैदी-जैसे पात्र की रचना और उसका निर्वाह कुशलता से किया गया है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'सौ रुपये' भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और कहानियों की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुई है। श्रमजीवी मोहम्मद शफ़ी अपने वर्ग के उन सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों की भाँति यथार्थ और जीवन के स्वप्नों से टकराता हुआ संसार में सभी वस्तुओं के होते हुए भी सबसे वंचित रह जाता है। उसके पास पैसा भी है, इच्छा भी है लेकिन जीवन का यथार्थ सत्य, अनिश्चित भविष्य और भूखे परिवार के कारण सारे बाजार का मोल-भाव करके लौट आता है। कहानी का कथानक, घटनाओं का क्रम और समस्याओं को प्रस्तुत करने का ढंग भी अच्छा है। इस प्रकार वह अनुभव करता है कि सारी दुनिया बहुत बूढ़ी हो चली है और उसको बच्चों-जैसी मुस्कराती हुई दुनिया चाहिए जिसमें स्वप्नों के टूटने की आशंका न हो।

'पानी का पेड़' शीर्षक कहानी का कथानक सुन्दर होते हुए भी उसमें बड़े विचित्र ढंग से कुछ अतिवादी राजनीतिक विचारों की ओर संकेत किया गया है, जिसके कारण कहानी का वास्तविक महत्त्व कम हो जाता है। कहानी का प्रारम्भ बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है, लेकिन उसका अन्त अनावश्यक अतिवादी राजनीति में फँसकर उलझ गया है। 'पानी का पेड़' प्रेम और मानवीय संवेदनाओं का प्रतीक बनते-बनते एक सरल 'लाल सपना' बनकर रह गया है, जिसकी चर्चा करने पर 'पुलिस का भय' आतंकित कर देता है। वैसे कहानी कई दृष्टियों से अच्छी है। कहानी-कला की दृष्टि से भी कुछ कहानियों में शिल्पगत मान्यताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है और कुछ में तो कृष्णचन्द्र की प्रौढ़ शैली का परिचय भी मिलता है।

[illegible] फिर भी यही कहना पड़ता है कि लेखक की जड़वादी सेक्स-भावनाएँ ही हैं, [illegible] कहानियों को [illegible] सबको एक स्थिति पर लाकर खड़ा कर देती हैं। 'अजीर' [illegible] कहानियाँ इतनी अस्वाभाविक और असंगत परिस्थितियों पर आधारित [illegible] उनका महत्त्व कुछ नहीं है। 'लाला [illegible]' शीर्षक कहानी [illegible] शीर्षक कहानी [illegible] अच्छे कथानक की टूटी-फूटी, अव्यवस्थित [illegible] कहानियाँ भी हैं, जैसे 'अमरीका से आने वाला [illegible]' शीर्षक [illegible] शैली और निम्न स्तर की सेक्स-भावना [illegible] अधिक महत्त्व है।

'सराय के बाहर' रेडियो-नाटकों का संग्रह है, जिसमें एक कथाकार नाटककार की वह सभी असफलताएँ पर्याप्त मात्रा में हैं जो समस्त संग्रह की कथावस्तु, शिल्प और शैली के अतिरिक्त कथोपकथन, हास्य-व्यंग तथा स्वाभाविकता की हत्या करके उनकी साहित्यिक विशेषता को नष्ट कर देती हैं। संग्रह को पढने से वह सभी विकृतियाँ और अधिक उभरकर सामने आती हैं, जो उपन्यास और कहानी-संग्रह में दबी हुई थीं। 'सराय के बाहर' नाटक में न जाने कैसे-कैसे पात्रों को चुन चुनकर रखा गया है कि सारा नाटक एक विभिन्न सेक्स ग्रन्थि बनकर रह जाता है। 'काहिरा की शाम' में भी वही औरतों के शरीर से खेलने की भूख, वही मार-पीट झगडा-टंटा—जैसे लेखक को जीवन में और कुछ दिखलाई ही नहीं पडता। जीवन के अनेक पक्ष हैं, अनेक स्थितियाँ हैं, अनेक भावनाएँ हैं और इनकी अनेकता ही में कला का सौन्दर्य है। रोमान्स, सेक्स और अन्य प्रणय-सम्बन्धी भावनाओं पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है लेकिन जिस कथा-वस्तु और कथानक को लेकर कृष्णचन्द्र चलते हैं उससे तो यह पता चलता है कि संसार में कहीं भी सत्य रक्षित नहीं है, किसी भी व्यक्ति अथवा पात्र में सत्य की रक्षा के लिए विरोधी तत्वों से लडने की क्षमता नहीं। सारी दुनिया केवल दो बातें सोचती है—पहली है उसकी सेक्स-भूख और दूसरी है पैसे की भूख। लेकिन इन दोनों भूखों के अतिरिक्त भी मनुष्य सोचता है, विचारता है, कला का सृजन करता है, चिन्तन के सूत्र देता है, मानवता की भावना को रक्षित रखता है। आँख में बँधी हुई पट्टी वाले बैल की भाँति मनुष्य केवल एक दायरे में ही नहीं घूम रहा है—वह लडाई भी लडता है, सन्धि भी करता है, अपने से भी लडता है और परिस्थितियों से समझौता भी करता है; लेकिन वह उस तरह की निर्जीव कठपुतली की भाँति नहीं है जैसा कि कृष्णचन्द्र समझते हैं। समस्त नाटकों को पढ़ने के बाद केवल यही पता लगता है कि लेखक की अर्द्ध-विक्षिप्त भावना एक ऐसे वृत्त में बँधी हुई है कि उसमें न तो कल्पना है, न आशा, उसका न तो कोई भविष्य के प्रति आग्रह है, न किसी भी मनुष्य के प्रति विश्वास है—वह किसी भी व्यक्ति को अपने ढंग से अनाचारी (Hardened Criminal) के रूप में चित्रित कर सकता है।

नाटकीय शिल्प के दृष्टिकोण से प्रस्तुत नाटक न तो रंगमंच के योग्य हैं और न ही इनमें कोई रेडियो-टेकनीक ही असाधारण रूप में है; न तो कथावस्तु में प्रौढ़ता है न शिल्पगत निपुणता, और न परम्परागत सांस्कृतिक चेतना। पार्वती और शंकर उर्दू की गज़ल भी गा सकते हैं और ओछे और छिछले ढंग से प्रेम-प्रलाप भी कर सकते हैं। कहीं-कहीं स्वगत-भाषण सोलोलोकी है तो कहानी-की-कहानी पृष्ठों में वर्णित है (जैसे 'बेकारी नाटक') जहाँ कहीं नाटकीय औत्सुक्य प्रदर्शित करने की चेष्टा की है (जैसे 'हजामत') तो उसमें भी लचर और दुर्बल शिल्प-ज्ञान का परिचय मिलता है। देश-काल तथा वातावरण के परे कृष्णचन्द्र की सृजन-शक्ति ने अपने चारों ओर मकडी का जाला बुन लिया है जिसमें प्रत्येक पात्र को उलझकर एक ही भाँति मरता है, एक ही भाँति प्रस्तुत होता है और लेखक भी उसी सीमा में बँधकर अपनी स्वतंत्रता और व्यापक दृष्टि को खो चुका है। यह और कुछ भी हो, किन्तु प्रेमचन्द्र की परम्परा तो नहीं ही है।[1]

●

---

१. लेखक—कृष्णचन्द्र, प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

प्रादेशिक साहित्य

हेमलता जनस्वामी

तैलुगु-प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ

वर्षों के अथक परिश्रम और प्रयत्नों के बाद तथा पिछले वर्ष पोट्टि श्रीरामुलुजी के अनशन के बाद अब यह निश्चय हो गया है कि आन्ध्र देश एक स्वतन्त्र राज्य बनेगा। इस राज्य की सीमा में उत्तर-दक्षिण वैज़ाग, पूर्व-पश्चिम गोदावरी, कृष्णा, नेल्लूरु, गुण्टूर, बेल्लारी (सिर्फ तीन जिले), अनन्तपुरम्, कडप और कर्नूलु जिले समाविष्ट होंगे। यहाँ के करीब १ करोड़ ८० लाख निवासियों की बोली तेलुगु ही है। हैदराबाद और मद्रास में भी तेलुगु-भाषी हैं, पर वे इस नये राज्य की सीमा में नहीं हैं। आज इस नये प्रदेश की जो भी समस्याएँ और प्रवृत्तियाँ हैं, वही कल [illegible] नवनिर्माण की पृष्ठभूमि और आधार [illegible]।

तीन ओर से यह प्रदेश उड़िया, हिन्दी, [illegible] और तमिल-भाषी क्षेत्रों से घिरा [illegible]। [illegible] सीमा के प्रदेशों में इन भाषाओं [illegible] मिलती है। जिस प्रकार दिल्ली [illegible], [illegible] नागपुर, बिलासपुर, [illegible] आदि स्थानों की हिन्दी में इन [illegible] इसी प्रकार विशाखापट्टनम, [illegible] निजामाबाद(?), नेल्लूर आदि [illegible] [illegible] है। [illegible] है।

तेलुगु की प्राचीन और आधुनिक भाषा-शैली में अन्तर पड गया है। मुसलमानी, मुगल और अँग्रेजी सल्तनत के प्रभाव से भाषा में कई उर्दू, अरबी, फारसी और अँग्रेजी के शब्द आ गए हैं। अँग्रेजी के शब्दों को तो प्रायः उसी रूप में ले लिया गया है। उर्दू, फारसी, अरबी के शब्दों को हम निजाम हैदराबाद के तेलुगु-भाषा-भाषियों में काफी पाते हैं। ऐसे ही कुछ शब्द भद्राद्रि रामदास की रचनाओं में हमें मिलते हैं। फिर भी तेलुगु भाषा की अपनी एक स्वतन्त्र विशेषता है। उसका प्रत्येक शब्द स्वरान्त है। संस्कृत समासयुक्त पदावली से प्रभावित होने के कारण तेलुगु में पद-लालित्य और स्वरान्त होने तथा न, ल, म, मु, वु, डु-सरीखे शब्दों के अधिक प्रयुक्त होने से भाषा में संगीतात्मकता आ गई है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-क्षेत्रों में तेलुगु को Italian of the East कहा जाता है।

तेलुगु-साहित्य का प्रारम्भ और विकास देश की ऐतिहासिक घटनाओं से अत्यधिक सम्बद्ध रहा है। अब तक के प्राप्त सूत्रों से यही ज्ञात होता है कि ई० स० १०१८ में महाराज विक्रमादित्य के पुत्र ने गद्दी ग्रहण की। इन्हीं के समय में वाङ्मय का विकास हुआ। तेलुगु के प्रथम कवि नन्नय्या थे। इनके

बाद समुद्र की लहरों के घात-प्रतिघात के समान राज्यों का उत्थान-पतन हुआ और इन्हीं-के थपेड़े झेलती साहित्य की नौका आगे बढ़ी। १५०६ (ई० स०) में विजयनगर की गद्दी पर कृष्णदेव राय आये। इनके राज्य-काल मे साहित्य, वाङ्मय, कला, विज्ञान, धर्म—सभी की अभिवृद्धि हुई। १६वीं शताब्दी हिन्दी या तैलुगु की ही नहीं वरन् समस्त विश्व-मानवता की चरम उत्कर्ष की वेला तो थी ही। इन दिनों तैलुगु मे धार्मिक साहित्य, संकीर्तन-साहित्य, नीति और लक्षण-ग्रन्थ, प्रशस्ति-ग्रन्थ, शतक-काव्य तथा यक्षमानो का सृजन हुआ।

ई० स० १८०१ से तैलुगु का नवयुग प्रारम्भ होता है। पद्य और गद्य दोनों मे ही रचनाएँ होने लगी। नाटक, एकाकी, कहानी, उपन्यास, प्रहसन, व्यंग्य-साहित्य, बाल-साहित्य, चलचित्र-साहित्य, रेडियो-रूपक और पत्रिकाओं के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। बालकों के लिए 'बाल'-सरीखी पत्रिकाओं, 'आन्ध्र-पत्रिका' आदि मे आधे से अधिक स्थान मे बालोपयोगी साहित्य, गत वर्ष के 'आन्ध्र-पत्रिका' के दशहरे के विशेषांक को तथा अन्य प्रकाशित पत्रिकाओं को देखने पर पता चलता है कि बाल-साहित्य का तैलुगु मे विकास हुआ है।

प्रथम महायुद्ध के बाद तैलुग-साहित्य मे काफी परिवर्तन हमे दृष्टिगत होता है। छायावाद और रहस्यवाद तथा अब प्रगतिवाद ने इस क्षेत्र मे पदार्पण किया है। छायावाद और रहस्यवाद के साहित्य मे आने पर कई कवि इस ओर स्वागतार्थ बढ़े। गीति-काव्यों का निर्माण हुआ। सबसे प्रमुख गीतिकार इस समय कृष्णशास्त्री है। प्रगतिवादी भावना के साथ ही हिन्दी-कविता की तरह तैलुगु-कविता मे भाव, भाषा और छन्दों मे अन्तर आ गया। आजकल तैलुगु की साहित्यिक भाषा को व्यावहारिक रूप देने का काफी प्रयत्न हो रहा है। इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु जी से हुआ। गुरजाड अप्पाराव और रायप्रोलु सुब्बाराव जी ने कविता के लिए व्यावहारिक भाषा को अधिक उपयुक्त सिद्ध किया। श्रीरंगम श्रीनिवासराव (श्री० श्री०) जी ने कविता मे भाषा, भाव, अलंकार आदि के बन्धनों को तोड़ दिया। अब तो रचनाएँ मुक्त छन्द मे भी होती हैं। श्री० श्री० ने विश्व-मानवता के दुःख को अपनी पीड़ा माना, पर कृष्ण शास्त्री के गीतों मे हम कवि की अपनी पीड़ा को विश्व-पीड़ा मे विस्तृत पाते हैं। प्रगतिशील लेखकों मे आरुद्र, अन्नसेट्टि सुब्बाराव, रमणारेड्डि और नारायण बाबू के नाम उल्लेखनीय हैं। बरमपुरम्, काकिनाडा, विशाखपट्टनम् और मद्रास इनके प्रमुख कार्य-क्षेत्र हैं। काकिनाडा मे 'नव्य साहित्य-परिषद्' की स्थापना की गई और 'उदयिनि' मासिक पत्रिका का सम्पादन करके नये साहित्य का प्रसार यह कर रहे हैं।

कहानी, नाटक और उपन्यास के क्षेत्र मे भी हिन्दी के समान चरित्र-प्रधान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-प्रधान कथानकों की ही रचना हो रही है। पर तैलुगु के कथा-साहित्य मे हम perverted psychology वाले पात्र, डाइवोर्स और तत्पश्चात् जीवन की विपाक्त अनुभूतियों का चित्रण, सेक्स आदि का वर्णन हिन्दी के नवीन कथानकों की तुलना मे उतना नहीं पाते। वहाँ के कथानकों मे आज के जीवन के ज्वलन्त उदाहरण—जैसे दुर्भिक्ष, बेकारी, आन्ध्र-तमिल भाषावार विभिन्नताएँ, विवाह-पक्ष और दहेज की विभीषिका आदि वर्णित हैं। यह अन्तर इसलिए कि वहाँ के लोगों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण मे ही फर्क है। अभी भी वहाँ परम्परागत भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन और सीधे-सादे जीविका के ढंग पर जीवन की विचार-धारा बह रही है। आधुनिक जीवन की उच्छृङ्खलता

अभी हम देख नहीं पाते। दो वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में पद्मराजु की कहानी 'गालि वान' (तूफान) को तृतीय पुरस्कार मिला है। मुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव का स्थान कथा-साहित्य में उल्लेखनीय है।

इधर प्रकाशन और पत्रकारिता का कार्य भी ज़ोरों पर है। वाविल्ला प्रेस ने तेलुगु के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का सम्पादन करके सस्ते दामों में अच्छे संस्करण निकालकर साहित्य को जनता के समीप पहुँचाने का प्रयत्न किया है। स्व० काशीनाथ नागेश्वरराव ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति 'आन्ध्र-पत्रिका' का सम्पादन करके साहित्य के विभिन्न अंगों को परिमार्जित कर पत्रकारिता को उच्च स्थान दिलवाया। साहित्य को इनकी बडी देन है।

आजकल आन्ध्र-विश्वविद्यालय में तो शोध-कार्य हो ही रहा है, पर तिरुपति तिरुमलइ देवस्थानम और ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, तिरुपति में वेंकटेश्वर साहित्य का प्रकाशन तथा प्राचीन तालपत्र और ताँबे के पत्रों पर लिखी गई हस्तलिपियों का सम्पादन करके उनका प्रकाशन हो रहा है। आन्ध्र-विश्वविद्यालय ने हस्तलिपि-संकलन और उनकी प्रतिलिपियों को मंगवाने का कार्य प्रारम्भ किया है। यहाँ सरस्वती महल हस्तलिपि लाइब्रेरी तंजौर की काफी हस्तलिपियों की प्रतिलिपियाँ हैं तथा कई मूल प्रतिलिपियाँ भी हैं।

साहित्य और भाषा के इस पहलू के साथ-साथ तेलुगु का संगीत-पक्ष भी उन्नति करता रहा। [illegible] दक्षिण का संगीत १८वीं शताब्दी [illegible] त्यागराजु की रचनाओं से [illegible] है, जो प्रत्येक घर में [illegible] गीतों के रूप जन-जन [illegible] हो रहा है। इनकी स्वर-लिपि [illegible] निश्चित है। [illegible] के [illegible] सम्पादन में एक ही पुस्तक में इन गीतों की स्वर-लिपि तथा तेलुगु, तमिल और कन्नड लिपि में गीतों के बीच देकर त्यागराजु की समस्त रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। (तमिल संगीत में दीक्षितार और श्याम शास्त्री की रचनाएँ भी प्रचलित हैं।) अप्पाराव जी ने क्षेत्रय के गीतों का भी संकलन किया है। इसमें सिर्फ राग-संकेत हैं। ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में १५वीं शताब्दी के गायक भक्त-शिरोमणि अन्नमाचार्य की हस्तलिखित रचनाओं का सम्पादन करके स्वरबद्ध करने का कार्य श्री राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा कर रहे हैं। वैसे संगीत का प्रसार, गायन, वीणा और वायलिन-वादन प्रायः घर-घर में होता है।

स्थापत्य और चित्र-कला में यहाँ के जीवन का अपना स्वतन्त्र प्रतिरूप है। अमरावती में प्राप्त शिला-लेखों और स्थापत्य की अन्य वस्तुओं से बौद्ध प्रभाव झलकता है। कृष्णदेव राय के ज़माने में इस ओर भी श्री-वृद्धि हुई। इसके प्रमाण हमें तिरुपति के वेंकटेश्वर देवालय, सिंहाचलम् के सिंहाद्रि नरसिंह राय के मन्दिर तथा कई मन्दिरों के गोपुरम्, प्राकार और मंटपों में मिलते हैं। गोपुरम्, मंटप, प्राकार यहाँ की स्थापत्य-कला के अनुपम प्रतीक हैं। इस दृष्टि से दर्शनीय स्थल हैं अमरावती का बौद्ध-स्तूप, कोंडवीडु का किला, धान्यकटक और विजयवाडा में कनकदुर्गा का मंदिर। वैसे विशाखपट्टनम् का हार्बर अपने नैसर्गिक सौंदर्य के लिए अनुपम है।

तेलुगु-भाषी क्षेत्रों में बौद्ध, जैन, अद्वैतवाद, शैव, वीर शैव और वैष्णव धर्मों ने अपनी-अपनी बारी में अपना-अपना प्रभाव दिखाया, पर आज धार्मिक कट्टरता नहीं रही। शिक्षा ने इस ओर काफी हाथ बटाया। पर आज भी उत्सवों पर देवालयों के उपदेवताओं को खूब अलंकृत करके बाजे-गाजे के साथ उनकी नगर-

परिक्रमा कराई जाती है ।

इतने धर्मों का प्रभाव पडने पर भी यहाँ का सामाजिक जीवन बहुत अधिक प्रभावित न हो सका और न उच्छृङ्खलता ही आ सकी। आज की अधिक-से-अधिक शिक्षित और संस्कृत आन्ध्र-परिवार के आँगन मे मुग्गु (अल्पना बंगाला से भिन्न), हल्दी और कुङ्कुम से सजाई चौखट आम्र तोरण (विशेष अवसरों पर) अवश्य ही हम पायेंगे। लहंगा-ओढ़नी पहने किशोरियाँ, जन-गीत गातीं श्रमिक वधुएँ, लम्बी चोटी डाले बालो मे फूलो की माला खोसे गृह-कार्य मे लगी आन्ध्र नारियाँ यहाँ का गौरव है। त्रावनकोर, कुर्ग और मैसूर की स्त्रियो के अनुपात मे स्त्री-शिक्षा यहाँ काफी कम है। पर अब इस ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। पिछले २०-२५ वर्षों मे श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने इस दिशा मे सराहनीय कार्य किया है।

ऐसी पृष्ठभूमि लेकर तैलुगु-प्रदेश आज कुछ अवधि के लिए करनूलु मे राजधानी बनाने, रायल सीमा की समस्या को सुलझाने और भाषा-भिवृद्धि के लिए अधिकारी ढंग से साहित्य के इतिहास लिखवाने आदि अनेको प्रश्नो मे उलझा है। उसके सामने राष्ट्रभाषा का भी एक बडा प्रश्न है। लोगो मे उत्साह है, राष्ट्रभाषा के प्रति गौरव है; आवश्यकता है योग्य शिक्षको और प्रचारको की। यह इसलिए कि उनकी नई भाषा के अंकुर लगेंगे। ठीक-ठीक उच्चारण और सही दृष्टिकोण बन जाने मे आगे कठिनाई न होगी। आज तैलुगु-साहित्य मे भारतीय और पश्चिमी साहित्य-ग्रन्थों का अनुवाद हो रहा है। पाश्चात्य आलोचना पद्धति के अनुरूप आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं। साहित्यिक पत्रिकाओ मे प्रमुख हैं—भारती, शारदा, वीणा, कुछ समय पूर्व तक प्रकाशित 'कृष्णपत्रिका' और 'आन्ध्र पत्रिका' के विशेषाक और वार्षिक अक। यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए लोगो मे उत्साह है।

तैलुगु-प्रदेश के नवयुवक और नवयुवतियो के सामने प्रदेश की समस्याएँ है, जिन्हे सुलझाना और सुलझाकर आगे बढ़ना उनका कर्तव्य है। उन्हे यहाँ के जन-गीतो ने लोरियाँ सुनाई है, राजनीतिक और सास्कृतिक हलचल ने दृष्टि दी है और पोट्टि श्रीरामुलु-सरीखे देश-सेवी ने लगन दी है तथा सागर की उठ-उठ गिर-गिर पडने वाली लहरो ने प्रगति का सन्देश दिया है।

आई० ए० एक्स्ट्रॅस

समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि

: १ :

विगत वर्षों मे पश्चिम के मानववादी साहित्य की प्रवृत्तियो मे एक भारी परिवर्तन के दर्शन हमे हुए हैं। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए हैं, वह आशा और विश्वास, जो कभी वेल्स के साहित्य मे परिव्याप्त थे, नैराश्य और पराजय को अपना स्थान देते गए है।

बीसवीं शती के आरम्भ मे वेल्स-जैसे लेखको मे अद्भुत उमग और उत्साहपूर्ण विश्वास था कि मनुष्य मे पूर्णता प्राप्त करने तथा बिना किसी की सहायता लिये जीवन को सुन्दर बनाने की अपार क्षमता निहित है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने हैम्लेट के उन उद्गारो को अपनी मूल आस्था बनाकर साहित्य निर्माण किया, जो उसने एक बार मानव की स्तुति और प्रशंसा के रूप में प्रकट किये थे :—

"कितनी अपूर्व कलाकृति है मानव!
विवेक और बुद्धि में महान्, शक्ति और सामर्थ्य मे अनन्त······
सृष्टि मे सुन्दरतम! प्राणि-मात्र में सर्वोत्तम!"

मनुष्य के भयमूलक स्वभाव ने निष्प्रयोजन और निरर्थक ही ईश्वर की सृष्टि की थी, अतः ईश्वर तथा धर्म दोनो का बहिष्कार हुआ। मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य से संघर्ष करके अपने स्वर्ग की रचना करनी चाहिए और अपना भगवान् स्वयं होना चाहिए, उसे संसार की सीमाओ से परे, वहाँ उस पार न देखकर अपने रचना-विधान से इस संसार को ही स्वर्ग बनाना चाहिए। [illegible] शताब्दी मे मानववादियो की यही मूलभूत धारणा रही है, जिसे वास्तव मे 'भौतिक-[illegible] मानववाद' कह सकते है।

[illegible] शताब्दी के मध्य मे, जहाँ मानव-जाति की वर्तमान प्रगति और उन्नति के सम्बन्ध मे [illegible] हुआ है, वहाँ से पीछे मुड़कर देखने पर हमे आश्चर्य होता है कि कैसे आज [illegible] मानव-विषयक दृष्टिकोण ने उसे आशावाद, उन्मुक्त उत्साह एवं [illegible] किया था। आज हम उस हेतुवादी किन्तु वास्तव मे विवेचना-हीन युग के [illegible] की पूर्णता सन्देह करने लगे है। उस समय 'प्रगति' के एक भाग्यवादी [illegible] विश्वास था, जिसे हम आज अवैज्ञानिक कल्पना कहते हैं; अन्य कितनी [illegible] और [illegible] भावनाओ मे उलट-पलट हो चुकी हैं। किन्तु सबसे

परिक्रमा कराई जाती है।

इतने धर्मों का प्रभाव पडने पर भी यहाँ का सामाजिक जीवन बहुत अधिक प्रभावित न हो सका और न उच्छृङ्खलता ही आ सकी। आज की अधिक-से-अधिक शिक्षित और संस्कृत आन्ध्र-परिवार के आँगन में मुग्गु (अल्पना बंगाला से भिन्न), हल्दी और कुङ्कुम से सजाई चौखट आम्र तोरण (विशेष अवसरों पर) अवश्य ही हम पायेंगे। लहँगा-ओढ़नी पहने किशोरियाँ, जन-गीत गाती श्रमिक वधुएँ, लम्बी चोटी डाले बालों में फूलों की माला खोसे गृह-कार्य में लगी आन्ध्र नारियाँ यहाँ का गौरव है। त्रावनकोर, कुर्ग और मैसूर की स्त्रियों के अनुपात में स्त्री-शिक्षा यहाँ काफी कम है। पर अब इस ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। पिछले २०-२५ वर्षों में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है।

ऐसी पृष्ठभूमि लेकर तैलुगु-प्रदेश आज कुछ अवधि के लिए करनूलु में राजधानी बनाने, रायल सीमा की समस्या को सुलझाने और भाषा-भिवृद्धि के लिए अधिकारी ढंग से साहित्य के इतिहास लिखवाने आदि अनेकों प्रश्नों में उलझा है। उसके सामने राष्ट्रभाषा का भी एक बडा प्रश्न है। लोगों में उत्साह है, राष्ट्रभाषा के प्रति गौरव है; आवश्यकता है योग्य शिक्षकों और प्रचारकों की। यह इसलिए कि उनकी नई भाषा के अंकुर लगेंगे। ठीक-ठीक उच्चारण और सही दृष्टिकोण बन जाने से आगे कठिनाई न होगी। आज तैलुगु-साहित्य में भारतीय और पश्चिमी साहित्य-ग्रन्थों का अनुवाद हो रहा है। पाश्चात्य आलोचना पद्धति के अनुरूप आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रमुख हैं—भारती, शारदा, वीणा, कुछ समय पूर्व तक प्रकाशित 'कृष्णपत्रिका' और 'आन्ध्र पत्रिका' के विशेषांक और वार्षिक अंक। यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए लोगों में उत्साह है।

तैलुगु-प्रदेश के नवयुवक और नवयुवतियों के सामने प्रदेश की समस्याएँ हैं, जिन्हें सुलझाना और सुलझाकर आगे बढ़ना उनका कर्तव्य है। उन्हें यहाँ के जन-गीतों ने लोरियाँ सुनाई हैं, राजनीतिक और सांस्कृतिक हलचल ने दृष्टि दी है और पोट्टि श्रीरामुलु-सरीखे देश-सेवी ने लगन दी है तथा सागर की उठ-उठ गिर-गिर पडने वाली लहरों ने प्रगति का सन्देश दिया है।

आई० ए० एक्स्ट्रैंस

समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि

: १ :

विगत वर्षों में पश्चिम के मानववादी साहित्य की प्रवृत्तियों में एक भारी परिवर्तन के दर्शन हमें हुए हैं। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए है, वह आशा और विश्वास, जो कभी वेल्स के साहित्य में परिव्याप्त थे, नैराश्य और पराजय को अपना स्थान देते गए हैं।

बीसवीं शती के आरम्भ मे वेल्स-जैसे लेखकों में अद्भुत उमंग और उत्साहपूर्ण विश्वास था कि मनुष्य मे पूर्णता प्राप्त करने तथा बिना किसी की सहायता लिये जीवन को सुन्दर बनाने की अपार क्षमता निहित है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने हैम्लेट के उन उद्गारो को अपनी मूल आस्था बनाकर साहित्य निर्माण किया, जो उसने एक बार मानव की स्तुति और प्रशंसा के रूप में प्रकट किये थे :—

"कितनी अपूर्व कलाकृति है मानव !
विवेक और बुद्धि में महान् , शक्ति और सामर्थ्य मे अनन्त······
सृष्टि में सुन्दरतम ! प्राणि-मात्र में सर्वोत्तम !"

मनुष्य के भयमूलक स्वभाव ने निष्प्रयोजन और निरर्थक ही ईश्वर की सृष्टि की थी, अतः ईश्वर तथा धर्म दोनो का बहिष्कार हुआ। मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य से संघर्ष करके अपने स्वर्ग की रचना करनी चाहिए और अपना भगवान् स्वयं होना चाहिए; उसे संसार की सीमाओं से परे, कहीं उस पार न देखकर अपने रचना-विधान से इस संसार को ही स्वर्ग बनाना चाहिए। वर्तमान शताब्दी के मानववादियों की यही मूलभूत धारणा रही है, जिसे वास्तव मे 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' कह सकते हैं।

इस शताब्दी के मध्य में, जहाँ मानव-जाति की वर्तमान प्रगति और उन्नति के सम्बन्ध मे हमारा स्वप्न भंग हुआ है, वहाँ से पीछे मुडकर देखने पर हमे आश्चर्य होता है कि कैसे आज से पचास वर्ष पूर्व मनुष्य के इस भाग्य-विषयक दृष्टिकोण ने उसे आशावाद, उन्मुक्त उत्साह एवं साहस का प्रकाश दिया था। आज हम उस हेतुवादी किन्तु वास्तव मे विवेचना-हीन युग के मतो और सिद्धान्तो पर पूर्णतया सन्देह करने लगे हैं। उस समय 'प्रगति' के एक भाग्यवादी सिद्धान्त मे एक व्यापक विश्वास था, जिसे हम आज अवैज्ञानिक कल्पना कहते हैं, अन्य कितनी ही सामाजिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक मान्यताओं मे उलट-पलट हो चुकी है। किन्तु सबसे

ऊपर हमने यह समझा है कि ऐसे 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' का अर्थ है—व्यावहारिक जीवन मे उपद्रव तथा विपर्यय; और हम यह भी समझने लगे हैं कि मानवीय कार्यों की महत्ता की दृष्टि से आस्था से अनिवार्य विद्रोह निरर्थक है। आल्डुअस हक्सले के 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड', रसेल के 'डिफाएण्ट पेसिमिज़्म' और सार्त्र के अस्तित्व के लिए 'अरुचि और अनाशा' का यही अभिप्राय है। नास्तिको का नाटक, जो गौरवमय साहसिक कार्यों तथा वीरत्वपूर्ण विजयो का इतिहास बन जाने का दम भरता था, "किसी मूर्ख द्वारा गढ़ी हुई कहानी-मात्र रह गया है, जिसमें केवल चिल्लाहट और आक्रोश है और जिसका कोई अभिप्राय नहीं है।" दास्ताव्स्की की अन्त-र्भेदिनी दृष्टि ने सौ वर्ष पहले ही यह बता दिया था कि 'नास्तिक मानववाद' मनुष्य को पतन और पराधीनता की ओर ले जायगा। 'नास्तिक मानववाद' के आधुनिक महारथी भी अपने कडवे अनुभवो से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि दास्ताव्स्की ठीक कहता था।

: २ :

'नास्तिक मानववाद' के दिवालिएपन से दो प्रकार की मनोरञ्जक और अवश्यम्भावी प्रतिक्रियाएँ हुई है। पहले प्रकार की प्रतिक्रिया की भूमि पर वे लोग हैं जो अब भी मूल रूप से नास्तिकवाद से चिपके रहना चाहते है, किन्तु व्यक्ति के अस्तित्व एवं उसके अपने भाग्य का कोई अर्थ न खोज पाने से निराश होकर, समूह अथवा वर्ग के अनुशासन पर व्यक्ति की बलि चढ़ाकर सन्तोष का अनुभव करते है। उनकी दृष्टि मे मनुष्य का मूल्य उसके व्यक्तित्व को न लेकर, उसके राजनीतिक कार्यों को लेकर है; उनके अनुसार आज के मनुष्य को भावी पीढ़ियो के वर्ग-हितो अथवा वर्तमान सरकार के राजनीतिक स्वार्थों की रक्षा करने मे ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। भविष्य से सम्बद्ध होने पर भी वर्तमान का अर्थ है। यह निर्विवाद है कि मार्क्सवाद एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो आधुनिक युग के दिवालिएपन के लिए आकर्षण की वस्तु है—ऐसा युग, जिसकी न कोई विशिष्टता है, न जो सुरक्षित है और न जिसका कोई निश्चित उद्देश्य है। किन्तु फिर भी यान्त्रिक मार्क्सवाद से किसी भी ईमानदार मानववादी को सन्तोष नहीं हो सकता। केस्लर, सायलोने तथा जीद-जैसे लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि यान्त्रिक मार्क्सवाद उतना ही अमानवीय है जितना कि नग्न शून्यवाद, जो मानव के व्यक्ति को उसके आत्माभिमान, उसके मूल्य तथा उसके स्वातन्त्र्य से वंचित रखता है।

दूसरी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप वे लोग है जो मानव-स्वातन्त्र्य की धारणा को असत्य और निरर्थक कहकर अस्वीकृत करते हैं तथा मानवीय कार्य-व्यापारो की धार्मिक रहस्यवादी व्याख्या स्वीकृत करते हैं। अपनी नई कृतियो के साथ आल्डुअस हक्सले, टी० एस० इलियट तथा सी० ई० एम० जोड इसी श्रेणी मे आते हैं। भारतवर्ष मे मानव-जीवन के प्रति अधिकतर धार्मिक अथवा रहस्यवादी दृष्टि रखने की ही प्रवृत्ति व्यापक रूप से वर्तमान है। दुर्भाग्य से भारत के चिन्तको द्वारा यह दृष्टि उस शैली मे प्रस्तुत नही का जाती जो सबको सन्तुष्ट और सहमत करके इसे स्वीकृत करा सके। नया मनुष्य उस अध्यात्म को ग्रहण नही कर सकता जो उसकी सम्पूर्ण मानवता को मान्यता न दे सके। मनुष्य का रूप सूक्ष्म ही नही है, वह सूक्ष्म और स्थूल दोनो है—उसे आत्मा और शरीर दोनो मिले है, अतः मानव-जीवन-सम्बन्धी किसी भी विचार-विमर्श के समय इन दोनो के औचित्य और अधिकार को स्वीकार करना होगा। आत्मिक एवं शारीरिक

प्रवृत्तियो तथा आकांक्षाओ के सम्यक् समन्वय का ही आदर्श अपनाना होगा, यद्यपि यह सही है कि प्रत्येक मानव-प्राणी अपने को एक प्रकार के असन्तुलन, द्वन्द्व तथा संघर्ष की स्थिति मे पाता है।

आधुनिक युग मे भारत तथा विदेशो की अतिरहस्यवादी विचार-धाराएँ शरीर तथा उनसे सम्बन्धित सारी वस्तुओ के यथार्थ उत्सर्ग पर जोर देती है। उनके अनुसार मनुष्य केवल आत्मा है—यह है तो सब-कुछ है और नही है तो कुछ भी नही। शरीर और उसकी मॉगो को वह निरर्थक तथा आत्मा की दिव्यत्व-प्राप्ति के मार्ग मे बाधा-स्वरूप समझती है, अतः शरीर एव उससे सम्बन्धित प्रायः सभी प्रवृत्तियो को भ्रम समझकर उनका त्याग कर देना चाहिए। इन अति-रंजनापूर्ण रहस्यवादी विचार-धाराओ के अनुसार मानव को पूर्णता और मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए—सासारिक उन्नति द्वारा नही, बल्कि इसकी उपेक्षा करके, इससे पलायन करके। यह भी एक अतिवादी, प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है।

: ३ :

इस प्रकार का धार्मिक समाधान आज के मनुष्य को सन्तुष्ट नही कर सकता, क्योकि वह ऐसे अध्यात्म को जीवन की वास्तविकताओ से मूर्खतापूर्ण एवं अशोभनीय पलायन समझता है। इस प्रकार का अध्यात्म मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओ और उनके साथ-साथ चलने वाले विज्ञान, कला एवं शिल्प के मिश्रित विकास और प्रगति को असगत बताकर हवा मे उडा देता है। इसके अतिरिक्त ऐसा अध्यात्म मानवीय सम्बन्धो एवं सफलताओ पर भी वास्तविक और महत्त्वपूर्ण प्रकाश नही डालता।

परिणामतः आज का मानव ऐसे धर्म के प्रति अवहेलना की भावना रखता है, उसे अपनी प्रकृति के विरुद्ध समझता है तथा अपनी चेतना के जागरूक स्फुरण को सुला देने वाला समझकर उसे अस्वीकृत करता है। कुछ हद तक वह उचित ही करता है। वास्तव मे यह कह देने से कि आर्थिक समस्या का अस्तित्व ही नही है और यदि है भी तो उससे माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं, इस समस्या का कोई हल नही प्रस्तुत होता।

: ४ :

यदि धर्म आज के मानव-प्राणी को प्रेरित करना चाहता है तो उसे मनुष्य की आध्यात्मिक और भौतिक, व्यक्तिगत और सामाजिक सभी प्रकार की प्रगति को अंगीकृत करना होगा। आज मनुष्य अपनी प्रकृति के किसी भी अंग को असम्बद्ध और अनावश्यक समझकर उसका दमन करने से इन्कार करता है। उसकी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक सभी क्षेत्रों की अपनी वास्तविक समस्याएँ हैं और कठोर सत्य के रूप मे उसके सामने हैं, यदि धर्म इन समस्याओ को हल करने मे उसकी सहायता नही करता तो वह धर्म की एक न सुनेगा। वह एक ऐसा धर्म चाहता है जो आत्मा और शरीर के द्वन्द्व को हल कर सके, उसकी आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियो मे सामंजस्य स्थापित कर सके और संयुक्त इकाई के रूप मे उसे पूर्णत्व प्रदान कर सके। केस्लर ने कुछ ऐसी ही बाते ध्यान मे रखकर अपने 'योगी एण्ड कमिसार' मे योगी के आध्यात्मिक आदर्शवाद तथा कमिसार के भौतिक सामर्थ्य और वैभव के परिणाम पर बल दिया है।

इसका अर्थ यह है कि धार्मिक सत्यों के चिन्तन द्वारा विकसित आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं नैतिक मूल्यों की व्यावहारिक अभिव्यक्ति मानव-व्यापारों के प्रत्येक क्षेत्र में होनी चाहिए। चिन्तन को कार्य-रूप में अवश्य ही परिणत होना चाहिए, तभी ऐसे कार्यों का महत्त्व, उपयोग, औचित्य और गौरव है।

इतना ही नहीं, आज का मनुष्य एक ऐसा धर्म चाहता है जो उसे समाज से दूर व्यक्तित्व के रूप में पूर्णता न देकर समाज के ऐसे सदस्य के रूप में पूर्णता प्रदान करे, जो साधारण सामाजिक हितों की अभिवृद्धि में योग दे सके। मानव की मुक्ति का रूप सामाजिक होना चाहिए, केवल वैयक्तिक नहीं।

अन्ततः आज के मनुष्य के लिए वही अध्यात्म आवश्यक है जो इने-गिने बौद्धिकों अथवा अवकाश प्राप्त व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित सार-तत्त्व के रूप में न होकर, जन-साधारण के लिए भी प्राप्य तथा स्वीकार्य हो और उसके पालन में व्यक्ति की जाति, संस्कृति तथा जीविकोपार्जन के साधनों के आधार पर कोई भेद-भाव न रखा जाय।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का अध्यात्म तथा उससे प्रेरित नव-मानववादी साहित्य हृदय की वेदनाओं तथा स्वाभाविक रूप से सताने वाली सहस्रों व्याधियों को एकदम दूर नहीं कर पायगा, किन्तु वह निरर्थक नैराश्य को छिन्न-भिन्न और मानव की कार्य-शक्ति को महान्, दिव्य एवं सुन्दर की ओर प्रवृत्त करेगा।

ग्रीन, मारियाक, क्लाडेल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, टी० एस० इलियट, बर्नेनो और दास्तास्की-जैसे लेखकों की जड़ें ऐसी ही आस्तिकता की गहराई तक पहुँची हैं। वे प्रचारक नहीं, कलाकार हैं। उनके नायक तथा नायिकाएँ जन-साधारण में से लिये गए हैं और उनकी जीवन-लीला भी सर्वसाधारण के बीच चित्रित की गई है, जिसका आधार सर्वोत्तम और पूर्णतम अर्थों में यही मानववादी नई आस्तिकता है, जिसका केन्द्र-बिन्दु विश्वात्म से संयुक्त सम्पूर्ण मानव है।

—प्रस्तुतकर्ता : श्रीहरि

हिमालय-परिचय(१) गढ़वाल

जैसा नाम से ही स्पष्ट है, राहुल जी की इस पुस्तक मे हिमालय के गढवाल-प्रदेश का विस्तृत तथा सर्वांगीण परिचय है। यह पुस्तक इस प्रदेश के लिए विश्व-कोष के समान है। कोई भी सम्भव बात इस प्रदेश के विषय मे इस पुस्तक मे छूटने नही पाई है। विभिन्न अध्यायो मे इस प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति, इसके इतिहास, निवासी तथा समाज, आजीविका, यातायात और संचार, स्वास्थ्य और शिक्षा, यात्राओ की तैयारी, यात्राओ तथा यहाँ के जन-साहित्य पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। चित्रो तथा नक्शो की सहायता से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। विवरणात्मक होने के कारण इसमे वह रोचक शैली नही मिलती जो लेखक की अन्य यात्रा-पुस्तको मे है। भूमिका मे लेखक ने हिमालय के अन्य प्रदेशो के विषय मे पुस्तक के अन्य भागो के तैयार होने की सूचना दी है। इस समस्त योजना के लिए लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

शिशुपाल-वध

श्री माघ के महाकाव्य का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवाद के साथ मूल भी दिया गया है। इस काव्य का एक अनुवाद साहित्य-सम्मेलन से पहले भी निकल चुका है। प्रकाशन की ओर से कहा गया है, पहले अनुवाद को संस्कृत के विद्वानो ने विशेष पसन्द नही किया। प्रस्तुत अनुवाद तथा पहले अनुवाद मे दृष्टिकोण का अन्तर है, अन्यथा पहला अनुवाद भी अच्छा था। इसमे भाषा पर अधिक ध्यान दिया गया है, उसमे अर्थ का। प्रस्तुत अनुवाद की भाषा अधिक गठी हुई तथा हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल है। प्रारम्भ की भूमिका भी उपयोगी है।

पर विचारणीय प्रश्न यह है कि जब हिन्दी के सामने ज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगो की पूर्ति का जबरदस्त उत्तरदायित्व है, उस समय इस प्रकार एक ही कृति का दूसरा अनुवाद प्रस्तुत करना एक सस्था के लिए कहाँ तक उचित हो सकता है। हमारी समझ मे हिन्दी-साहित्य-सम्मे-

१. लेखक—श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद।

लन को इस समय 'मत्स्यमहापुराण' तथा 'वायु-पुराण' के अनुवादों से कुछ समय के लिए विरत होकर ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न पाश्चात्य पुस्तकों के अनुवाद की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। यही समय की माँग है।[1]

पहेली

'पहेली' श्री राजेन्द्र रघुवंशी द्वारा लिखित वर्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की विकृतियों को चित्रित करने वाला व्यंग्य-प्रधान एकाकी है। इस एकाकी के प्राय सभी पात्र निम्न-मध्यवर्ग के प्रतिनिधि है और सब-के-सब यथार्थ के कटु सत्यो से पलायन करने मे जीवन का सन्तुलन खो चुके है।

नाटकीय तत्त्व नाटक मे काफी है, किन्तु किन्हीं कारणों से उनका विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। पहली बात तो यह है कि एकाकी नाटक मे समय, देश और काल का ऐक्य बड़े गठित रूप मे होना चाहिए। प्रथम दृश्य और दूसरे दृश्य के कालान्तर मे दो साल का समय खटकता है। यदि कथानक को दूसरे दृश्य से प्रारम्भ किया जाता और प्रथम दृश्य उसके अन्तराल मे होता तो शिल्प के दृष्टिकोण से यह दोष न रह पाता। दूसरी बात यह है कि चरमोत्कर्ष का विकास क्रमिक न होकर सहसा हो उठा है, जो अनुचित है। नाटक के अन्त मे शर्मा द्वारा कहलाया गया व्याख्यान के रूप मे प्रस्तुत वाक्याश नाटक की स्वाभाविकता को नष्ट कर देता है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज के जीवन मे सघर्ष अधिक तीव्र और कटु रूप मे प्रस्तुत हो रहे हैं। फिर भी उस संघर्ष का चित्रण नाटक मे बहुत ही क्षेपक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जिन संघर्षों को नाटककार ने चित्रित करना चाहा है वे केवल 'धोबी' और 'क्रासवर्ड' के प्रतीकों तक ही सीमित रहने के कारण नाटक मे सब-कुछ होते हुए भी कथा-अंश का अभाव रह गया है। हम आशा करते हैं कि नाटककार अपने अन्य नाटको मे कथा का अंश और स्पष्ट तथा सुन्दर रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

श्री अमृतलाल नागर के शब्दो मे—"इस पहेली मे चाँदी के जूतों से पिटे हुए मिडिल क्लास का उमदा खाका खींचा गया है।"—इस सचाई और ईमानदारी की पकड़ लेखक की प्रतिभा का परिचय देती है। हमे 'पहेली' के लेखक से भविष्य में उच्चकोटि की कृतियो की आशा करनी चाहिए।[2]

---

१. अनुवादक—श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

२. लेखक—राजेन्द्र रघुवंशी, प्रकाशक—विश्व-साहित्य, आगरा।

हिन्दी शीघ्र लिपि

श्री मुरलीधर मचनीग की यह पुस्तक वर्मा-प्रणाली-शीघ्रलिपि के आधार पर तैयार की गई है। इसमें केवल सिद्धान्त पक्ष को लिया गया है। वर्णों के संकेत आदि अपने वर्गों के अनुरूप होने के कारण उनमें कोई विशेष उलझन नहीं है। फिर संयुक्त रूपों तथा मात्राओं आदि की भी समस्या को बहुत वैज्ञानिक ढंग से लिया गया है। तमाम क्रियाओं, प्रत्ययों, उपसर्गों, सर्वनामों आदि के संकेत निश्चित भी कर दिये गए हैं।

इस प्रकार की पुस्तकों का सम्बन्ध हिन्दी-सम्बन्धी नीति से है। जब तक हिन्दी के मान्य विद्वान् तथा सरकारें कुछ निश्चित नहीं करतीं तब तक इस पुस्तक की उपयोगिता के विषय में अन्तिम रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। पर लेखक का प्रयास सराहनीय है।[1]

सम्मेलन-पत्रिका (लोक-संस्कृति-अंक)

'देर आयद, दुरुस्त आयद' की कहावत सम्मेलन-पत्रिका के 'लोक-संस्कृति'-विशेषाङ्क के विषय में केवल अंशतया ही चरितार्थ होती है। इसके अभावों का प्रमुख कारण यह है कि सम्पादन-श्रम के पीछे एक सुनिश्चित योजना, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और एक शास्त्रीय पद्धति का अस्तित्व नहीं प्रतिभासित होता। सम्पादकीय का प्रथम वाक्य है 'संस्कृति ब्रह्म की भाँति अवर्णनीय है।' इस वक्तव्य से यह स्पष्ट प्रतिध्वनित है कि सम्पादक किसी भी ऐसी प्रणाली का व्यवहार नहीं कर रहा है जिससे 'संस्कृति' और विशेषतया 'लोक-संस्कृति' का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। शायद वह यह भी नहीं स्वीकार करता कि समाज-विज्ञान ने अब संस्कृति को ब्रह्म की तरह अवर्णनीय नहीं रहने दिया है।

फिर भी मैटर के संकलन में बहुत व्यापक क्षेत्रों को मापा गया है और लगभग आधा अनावश्यक मैटर हटाने पर लोक-संस्कृति के सम्बन्ध में अब तक हिन्दी में प्रस्तुत कुछ श्रेष्ठ लेखन और भी गठित रूप में सम्मुख आता, ऐसी सम्भावना थी। ऐसे अधिकाश लेखों में या तो विशुद्ध पत्रकारिता है या लोक-गीतों के प्रति एक अर्द्ध-रोमांटिक आग्रह, जो आजकल हिन्दी-साहित्य का नया फैशन है। जिस तरह सजे हुए विशाल राजसी कक्षों में आजकल गाँव की टोकरियाँ दीवारों पर शोभा के लिए चक्र की भाँति टाँगी जाती है, उसी प्रकार लोक-जीवन, लोक-कला, लोक-गीतों का उल्लेख नागरी मध्यवर्गीय लेखकों का एक फैशन हो गया है, जो स्वाद बदलने के लिए बुरा नहीं माना जाता। लोक-जीवन के प्रति इस रोमांटिक बूर्ज्वा-प्रेम से पृथक् अगर भारतीय लोक-परम्परा के अध्ययन की वैज्ञानिक दिशाओं का संकेत इस अंक से मिल सकता तो

---

१. प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास।

सामग्री-संकलन के अथक श्रम और उत्कृष्ट मुद्रण की परिष्कृत अभिरुचि को अधिक सार्थकता मिल सकती थी।[1]

●

आजकल (कविता-अंक)

बहुत दिनो से किसी ऐसे प्रयास का अभाव अनुभव हो रहा था कि जिसमे समस्त भारतीय भाषाओ के समकालीन साहित्य की झलक एक ही बिन्दु से प्राप्त हो सके। यदि साहित्य के अन्य क्षेत्र नही, तो कम-से-कम काव्य-क्षेत्र मे 'आजकल' का 'कविता-अंक' इस कमी की थोडी-सी पूर्ति करता है। योजना, चयन और प्रस्तुतीकरण मे सत्यार्थी जी अत्यधिक सफल हैं और उनका सम्पादकीय भी विषय-प्रवेश का सुन्दर स्थानापन्न है। परिचयात्मक लेखो मे सर्वश्री उमाशंकर जोशी, मन्मथनाथ गुप्त और दीवानचन्द्र शर्मा के लेखो मे अपने विषय पर अधिकार होने का परिचय मिलता है। प्रभाकर माचवे का लेख प्रवृत्तियो के विश्लेषण के बजाय नाम और तिथि के विवरण मे भटक गया है। उनसे इससे अधिक की आशा की जाती थी।

हिन्दी-कविता का परिचय श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने दिया है। पिछले दिनो सूर, तुलसी आदि पर प्रकाशित उनके लेखो मे हिन्दी की पुरानी कविता से उनका जितना परिचय आभासित होता है, उतना ही हिन्दी की नई कविता से भी वे परिचित प्रतीत होते है। यह आश्चर्यजनक है। लेख के अन्त मे नई कविता के प्रसग मे 'अज्ञेय' का एक बार उल्लेख करना उन्होने उचित माना है, यह उनके सौजन्य और उदार-दृष्टि का परिचायक है। हिन्दी-कविताओ के चयन मे नये हस्ताक्षरो को आमन्त्रित किया गया है। यह वास्तव मे स्वस्थ प्रवृत्ति है। केदारनाथसिह के गीत मे अद्भुत गीति-प्रतिभा का संकेत मिलता है। उसीके बाद एक दिलचस्प कविता रामदरश मिश्र की है जिसमे 'हुए दो लाल दशरथ के, मुबारक हो—मुबारक हो!' से प्रभावित 'नये इस साल की विश्वास-रोशनी से भरी पहली सॉस पर बधाई है, बधाई है!' की टेक कई बार आती है। आशा है इस कृति से कवि के शब्दो मे 'खोखले साहित्य के महन्तो का हृदय हलर-हलर हिल गया' होगा। त्रिलोचन की सॉनेट मे हीन-भावना (Inferiority Complex) और काव्य मे डीग के द्वारा उसकी क्षति-पूर्ति का रोचक उदाहरण मिलता है।

आग्ल-भारतीय काव्य के साथ एक परिचयात्मक लेख की कमी बहुत खटकती है। उर्दू मे राशिद, फैज, अली, जाफ़री, वामिक—इन तमाम नये कवियो की कृतियॉ गायब हैं। परिणामस्वरूप उर्दू की नई कविता का बिलकुल प्रतिनिधित्व नही हो पाया है।[2]

●

---

१. सम्पादक—श्री रामनाथ 'सुमन', प्रकाशक—साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

२ आजकल—सम्पादक—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली।

पांचजन्य (राजनीति-अंक)

इस अंक के प्रारम्भ मे ही घोषित किया गया है कि यह विशेषांक किसी भी राजनीति के पिष्टपेषण-मात्र के लिए नहीं वरन् राजनीतिक सिद्धान्तों का विचार करते समय भारतीय चिन्तना के नवीन मूल्यांकन को प्रश्रय देने की दृष्टि से आयोजित किया गया है। निस्सन्देह यह अपने ढग का नवीन प्रयास है और इस प्रकार के प्रयास हिन्दी को सम्पन्न ही बनायेंगे, किन्तु इस तमाम अंक मे समस्याएँ उठाई ही गई हैं, उनका निदान बहुत अल्प मात्रा मे है। राजनीतिक वाद और इतिहास-शास्त्र आज साहित्य-दर्शन को अत्यधिक प्रभावित कर रहे हैं। इस दृष्टि से स्वतन्त्रता की भारतीय धारणा पर कुन्हन राजा का लेख तथा भारतीय इतिहास-सिद्धान्तों पर गणपतिसिंह का लेख महत्वपूर्ण है, किन्तु भारतीय चतुर्युगी कल्पना पर विदेशी इतिहासकारों और दार्शनिकों के मतों का परीक्षण नहीं किया गया है। स्पेंगलर से लेकर सोरोकिन तक ने उस पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय संस्कृति के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने का कहीं भी प्रयास नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि हम उसका वही विश्लेषण दें जो संकीर्ण मार्क्सवादी देते हैं, किन्तु उस मानदण्ड की सर्वथा उपेक्षा करना नितान्त अवैज्ञानिक है। कविताएँ और एकांकी अंक की गम्भीरता नष्ट करते हैं।[1]

---

१. सम्पादक—गिरीशचन्द्र मिश्र : महेन्द्रप्रताप कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक—राष्ट्र-धर्म प्रकाशन, लखनऊ।

'आलोचना' के आगामी अंकों में

समीक्षा के लिए प्राप्त कृतियाँ

सुखदा	श्री जैनेन्द्र कुमार	प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
विवर्त	,,	,, ,,
व्यतीत	,,	,, ,,
पाप और प्रकाश	,,	,, ,,
काम, प्रेम और परिवार	,,	,, ,,
साहित्य का श्रेय और प्रेय	,,	,, ,,
सुबह के भूले	श्री इलाचन्द्र जोशी	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
महापुरुषों की प्रेम-कथाएँ	,,	लहर प्रकाशन, प्रयाग
शिल्पी	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	सेण्ट्रल बुकडिपो, ,,
लहर और चट्टान	,, विश्वम्भर 'मानव'	किताब महल, ,,
एक था राजा	,, मुल्कराज आनन्द	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
दशकुमार चरित	(अनु०) निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार	,, ,,
पंचतन्त्र	(अनु०) डॉ० मोतीचन्द्र	,, ,,
रात, चोर और चाँद	श्री बलवन्तसिंह	प्रगति प्रकाशन, ,,
पिंजर	श्रीमती अमृता प्रीतम	,, ,,
चील और चट्टान	श्री करतारसिंह दुग्गल	,, ,,
पाँच रुपये की आजादी	कृष्णचन्द्र	,, ,,
सराय के बाहर	,,	,, ,,
तूफान की कलियाँ	,,	राजपाल एण्ड सन्स, ,,
रथ के पहिये	श्री देवेन्द्र सत्यार्थी	एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली
राधा और राजन	,, बलभद्र ठाकुर	ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया
कच देवयानी	,, गुलाब	कला कुञ्ज, गया
अलका	श्रीमती शान्ति सिंहल	भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली
शुक्र की राजनीति	डॉ० श्यामलाल पाण्डेय	प्रेम पब्लिशर्स, लखनऊ
साहित्य-विवेचन	श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'	
	,, योगेन्द्र कुमार मल्लिक	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कला और संस्कृति	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
भारतवर्ष में जातिभेद	आचार्य क्षितिमोहन सेन	,, ,,
सौन्दर्य-शास्त्र	डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा	,, ,,

हिन्दी नाटककार	श्री जयनाथ 'नलिन'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कवि आरसी की काव्य-साधना	,, प्रताप साहित्यालंकार	तारा मण्डल, कलकत्ता
समीक्षा की समीक्षा	श्री प्रभाकर माचवे	साहनी प्रकाशन, दिल्ली
हमारे साहित्य में हास्यरस	,, कृष्णकुमार श्रीवास्तव	कृष्ण कुञ्ज, फैज़ाबाद
जीवन और शिक्षण	,, विनोबा भावे	सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
सन्त-सुधा-सार	,, वियोगी हरि	,, ,,
सुहागिन	श्रीमती विद्यावती 'कोकिल'	ज्योति प्रकाशन, प्रयाग
क्वासि	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
हिन्दी-साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली
कबीर की विचार-धारा	डॉ० त्रिगुणायत	साहित्य निकेतन, कानपुर
देखा, सोचा, समझा	श्री यशपाल	विप्लव प्रकाशन, लखनऊ
वैष्णव धर्म	' परशुराम चतुर्वेदी	विवेक प्रकाशन, प्रयाग
आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त	डॉ० एस० पी० खत्री	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
एकाकी	सीताराम गोयल	प्राची प्रकाशन, कलकत्ता
Psychological studies in Rasa	डॉ० राकेश गुप्त	(स्वतः लेखक द्वारा प्रकाशित)
ठण्डा लोहा	डॉ० धर्मवीर भारती	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
नव-निबन्ध	श्री परशुराम चतुर्वेदी	लोक-सेवक प्रकाशन, काशी
राख का स्तूप	,, लक्ष्मीकान्त वर्मा	साथी प्रकाशन, प्रयाग
सन्त-काव्य	सम्पादक-परशुराम चतुर्वेदी	किताब महल, ,,
चाँदनी रात और अजगर	श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	नीलाभ प्रकाशन-गृह, ,,
बदलता युग	श्री महेन्द्र भटनागर	दीनानाथ बुकडिपो, इन्दौर

आलोचना-अंक की रूप-रेखा

प्रस्तुत अंक से 'आलोचना' अपना दूसरा वर्ष समाप्त कर रही है। अगला अंक हमारे तीसरे वर्ष का प्रवेशांक होगा। पूर्व घोषणा के अनुसार यह अंक 'आलोचना-विशेषांक' होगा। इस अंक की योजना बनाते समय सम्पादकों के सामने यह सिद्धान्त स्पष्ट रहा है कि समीक्षा-शास्त्र अपने में निरपेक्ष और निरपेक्ष न होकर समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, सौन्दर्य-शास्त्र, दर्शन, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के सिद्धान्तों से प्रभावित होता है, अतः सम्पूर्ण मानवीय चिन्तन में उसकी सापेक्ष स्थिति का विचार किये बिना उसे अपने में सम्पूर्ण मान लेना या ज्ञान की किसी एक ही शाखा से उसे पूर्णतया सम्बद्ध कर देना अवैज्ञानिक और एकांगी है। साथ ही भारतीय समीक्षा ने मध्यकाल में विकसित होने वाली यूरोपीय तथा एशियायी समीक्षा-पद्धतियों से भी पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है, यह भी उपेक्षणीय नहीं। इस अंक में निम्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेख रहेंगे :

१. दार्शनिक-चिन्तन और समीक्षा-पद्धतियों का मूलाधार। साहित्य-समीक्षा का समाजशास्त्रीय पक्ष। इतिहास की व्याख्याएं और समाज दर्शन। मनोविज्ञान की प्रगति का समीक्षा-पद्धति पर प्रभाव। सौन्दर्य-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र। अभिरुचि, प्रभाव और समीक्षा। साहित्य के इतिहास-निर्माण के सिद्धान्त। पाठालोचन के सिद्धान्त।

२. यूनानी समीक्षा-पद्धति और उसकी परम्परा। पाश्चात्य यूरोप के समीक्षा-निकाय। आधुनिक अँग्रेजी समीक्षा। मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी आन्दोलन। चीनी परम्परा और माओ का साहित्य-दर्शन। ईरानी साहित्य-शास्त्र और उसका भारतीय साहित्य पर प्रभाव।

३-क. भारतीय साहित्य-शास्त्र के आधार और आदर्श। भारतीय समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों का क्रमिक विकास। रस-सिद्धान्त का दार्शनिक आधार। ध्वनि-सिद्धान्त और उसका समन्वयवादी दृष्टिकोण। काव्य-शिक्षा-ग्रन्थों की परम्परा। संस्कृत-व्याख्या-पद्धति का क्रम-विकास। साहित्य-शास्त्र पर शैव, बौद्ध और वैष्णव प्रभाव। शास्त्रीय पद्धति के अतिरिक्त लोक-परम्परा। लोक-साहित्य के काव्य-रूप और काव्य-सिद्धान्त।

३-ख. हिन्दी की मध्यकालीन आचार्य-परम्परा और रीति-ग्रन्थ। हिन्दी रीति-शास्त्र और उसकी पृष्ठभूमि। संक्रान्ति-काल : नये मूल्यों का प्रवेश और पुरानी सीमाएँ। द्विवेदी-युग के समीक्षात्मक मानदण्ड। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का समीक्षात्मक दृष्टिकोण। शुक्लजी की परम्परा। गुलाबराय और उनका वृत्त। हजारीप्रसाद द्विवेदी : एक अध्ययन। छायावादी साहित्य-दर्शन। प्रगतिवादी नीति और समीक्षात्मक गतिविधि। प्रयोगवाद का वाद। उर्दू-आलोचना की रूप-रेखा। मराठी में साहित्य-शास्त्र के निर्माण की नई दिशा। बंगला के समीक्षा-निकाय और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ।

४. प्रतीक-पद्धति और प्रतीकवाद। अति-यथार्थवाद के साहित्यिक सिद्धान्त। 'अस्तित्व' की समस्या और साहित्य-चिन्तन। टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त। आई० ए० रिचार्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त। मार्क्सवाद और काडवेल। अरविन्द-साहित्य-दर्शन।

५. पाश्चात्य मनोविज्ञान और रस-शास्त्र। रस-सिद्धान्त और मार्क्सीय समीक्षा-दृष्टि। रस-सिद्धान्त का पुनर्मूल्यांकन। सौन्दर्य-शास्त्र का वैज्ञानिक विश्लेषण। हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र। भविष्यत्-साहित्य-दर्शन।

—प्रकाशक, आलोचना

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ फैज बाजार दिल्ली के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।